राष्ट्रीय स्वाधीनता
और
प्रगतिशील साहित्य

रामेश्वर शर्मा

प्रकाशक
मानव भारती प्रकाशन
नई दिल्ली : मथुरा : मसूरी

प्रकाशक
मानव भारती प्रकाशन
नई दिल्ली : मथुरा : मसूरी

मुद्रक
कॉरोनेशन प्रिंटिंग वर्क्स
दिल्ली

मूल्य
चार रुपए

१९५३

प्रस्तुत निबंधों में मैंने हिन्दी-साहित्य में प्रवाहित चिंतन-धाराओं तथा स्रष्टा कलाकारों के कृतित्व के मूल्यांकन का प्रयास किया है।

आधुनिक साहित्य के विस्तृत मूल्यांकन की जरूरत है। इसी में हमारे उस सौंदर्य-शास्त्र की परीक्षा होगी जिसे हम साहित्य पर लागू करना और विकसित करना चाहते हैं। इसी दशा में—प्रस्तुत निबंध आपके समक्ष हैं—आशा है पसंद करेंगे।

इनमें से कुछ निबंधों का आंशिक प्रकाशन 'वीणा' में राज-किशोर, प्रो० प्रेमनारायण अवस्थी प्रभृति नामों से हो चुका है जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

रामेश्वर शर्मा

क्रम :

रामपाल बजाज को

राष्ट्रीय स्वाधीनता
और
प्रगतिशील साहित्य

मनोविश्लेषण शास्त्र और हिन्दी आलोचना

शुक्ल जी के बाद हिन्दी की भागीरथी में बहुत-सा पानी बह गया है और अनेकों नए झरनों का जल आकर उसमें समाहित हो गया है। हिन्दी आलोचना की धारा में इन नवागत झरनों का जल अभी मिल कर एकरूप नहीं हो पाया है, और इसीलिये समीक्षा के एक मिले-जुले स्वरूप का प्रायः अभाव-सा है। समीक्षा की इस भागीरथी में इन झरनों के जल का स्वरूप स्पष्ट रूप से पृथक् पृथक् दिखाई पड़ता है। अतः अपने मूल रूप में यह धारा बहुत चौड़ी हो गई है तथा विस्तृत एवम् व्यापक रूप धारण कर गंगासागर मिलन की भाँति सहस्राभिमुखी होकर बह रही है। निश्चय ही आज हिन्दी में इतने प्रकार की आलोचना प्रणालियों का प्रचलित होना, उसके विकास, प्रगति, पुष्टता और उज्ज्वल भविष्य का परिचायक है। आज हमारे साहित्य की समीक्षा की धारा समतल भूमि पर बह रही है। और उसने सारे समतल मैदान पर बाढ़ की उर्वर मृत्तिका बिछादी है, जिसमें नए साहित्य की पौध लहलहा कर उग रही है।

आलोचना की इस धारा में कुछ जल विदेशी प्रभाव से मुक्त भी है, तो कुछ पूर्णतः विदेशी छाप तथा रंग लिये हुए भी। कारण स्पष्ट है। आज के युग में देशों की सीमाएँ एक झटके के साथ टूट रही हैं। विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप विश्व की सम्बद्धता बढ़ती जा रही है और उसका प्रभाव हमारे वैचारिक जीवन पर अनिवार्य रूप से पड़ रहा है।

आज की हिन्दी समीक्षा पर जिन विचारकों का प्रभाव पड़ा उनमें कार्ल मार्क्स, सिग्मंड फ्रायड, आई. ए. रिचार्ड्स और टी. एस. इलियट प्रमुख हैं। मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित होकर आगे बढ़ने वाली आलोचना की धारा को प्रगतिवादी नाम दिया गया है। इस पद्धति की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। अभी यह प्रणाली पथ में है, परन्तु कालान्तर में जैसे ही इसका स्वरूप व्यापक हुआ, यह स्पष्ट हो जाएगा कि शुक्ल जी की विरासत इस पद्धति के आलोचकों को प्राप्त हुई है।

फ्रायड की विचारधारा को लेकर हिन्दी में कोई आलोचना की धारा प्रवाहित नहीं हुई। परन्तु हिन्दी में मनोवैज्ञानिक आलोचना की जो धारा चल रही है उसने आंशिक रूप में फ्रायड की विचारधारा को अपनाया है। केवल

फ्रायडवादी आलोचना पद्धति को लेकर आलोचना करने वालों में अकेले डॉ० नगेन्द्र हैं, जो अपने आपको मनोविज्ञान के क्षेत्र में समन्वयवादी कहते हुए भी एकान्त रूप से फ्रायड की विचारधारा के अनुयायी हैं और शुद्ध मनोविज्ञान को ही कला समीक्षा का मापदण्ड मानते हैं। फ्रायड की विचारधारा का हिन्दी साहित्य के अन्य क्षेत्रों पर तो बड़े व्यापक पैमाने पर प्रभाव पड़ा है—और उपन्यास, कहानियों आदि में दिल भर कर अन्तर्मन का रहस्य दिखाया जाने लगा है। एक आलोचक के शब्दों में व्यापक रूप से हिन्दी में 'बहिनबाजी' प्रचलित हो गई है। पर आलोचना के क्षेत्र में इसकी दशा बहुत हीन है। इस आलोचना पद्धति का विश्लेषण करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम कला और साहित्य के सम्बन्ध में फ्रायड के दृष्टिकोण को समझ लें।

आधुनिक युग के महान विचारकों में, जिनकी कि विचारधारा का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा है, फ्रायड भी एक हैं। उन्हें आधुनिक मनोविज्ञान का पिता कहा जाता है। यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान फ्रायड की विचारधारा से काफ़ी आगे बढ़ चुका है, और फ्रायड की विचारधारा को पूर्ण रूप से वैज्ञानिक स्वीकार नहीं करता। जीवन की मूल प्रेरणाओं के ही सम्बन्ध में एडलर और युंग जो कि फ्रायड के ही शिष्य थे, की विचारधारा फ्रायड के सिद्धांतों के विपरीत है। तथापि फ्रायड की विचारधारा का आधुनिक मनोविज्ञान पर भारी प्रभाव पड़ा है। मनोविज्ञान की वह शाखा जो फ्रायड की विचारधारा को लेकर चली है 'मनोविश्लेषण शास्त्र' कहलाती है। अस्तु, फ्रायडवादी आलोचना को ही केवल मनोवैज्ञानिक मानना एक भारी भ्रम है। फ्रायड का मनोविश्लेषण आधुनिक युग के व्यापक मनोविज्ञान का एक अंग मात्र है।

यह एक विचारणीय प्रश्न है कि वह सामाजिक परिस्थिति आखिर किन तंतुओं की बनी हुई थी, जिसने कि फ्रायड, मार्क्स और डार्विन की विचारधारा को जन्म दिया और आगे बढ़ाया। फ्रायड, मार्क्स और डार्विन तीनों ने ही अपने युग की चिन्तना को एक झटके के साथ एक दूसरी दिशा में मोड़ दिया है और जिससे पिछले युग की विचार शृंखला एक साथ झंकृत हुई, टूटी और बिखर गई। यह युग बुद्धिवाद का था। विज्ञान विश्लेषण की प्रक्रिया को जन्म दे चुका था। विश्लेष्य के इस युग में मानव ऊपर की तहों पर विचार कर संतुष्ट नहीं रह सकता था। परतों की तहों के भीतर जाकर अन्वेषण करना विश्लेष्य युग की प्रथम विशेषता थी। इसीलिये मार्क्स जहाँ

एक और पूँजीवाद की ऊपरी तह के नीचे होने वाले शोषण के अन्वेषण में संलग्न रहे, फ्रायड चेतन मन के नीचे दमित काम कुण्ठाओं की खोज में। ढंग दोनों का एक है पर निष्कर्ष में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। मार्क्स का निष्कर्ष आशा और विश्वास से पूर्ण है। उसने बतलाया कि पूँजीवाद का ऊपरी आवरण एक दिन सदा के लिये फट जायेगा और मनुष्य के द्वारा मनुष्य के होने वाले शोषण का सदैव के लिए अन्त हो जावेगा। वहीं फ्रायड के निष्कर्ष कहते हैं कि, सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की अवचेतन-स्थित कुण्ठाओं का दमन तीव्रतर होता जा रहा है और फल-स्वरूप मनुष्य के विक्षिप्त होने की सम्भावनाएँ अधिक बढ़ती जा रही हैं। भारी अन्तर है। एक कहता है आगे का मनुष्य समाजवाद का मनुष्य होगा सभ्य, संस्कृत और खुशहाल। दूसरा कहता है आगे का मनुष्य सभ्यता के विकास के कारण विक्षिप्तता की ओर बढ़ेगा, उसके पागल होने की सम्भावनाएँ अधिक बढ़ेंगी।

साम्यवाद, विकासवाद और मनोविश्लेषण-शास्त्र की पृष्ठभूमि वह अभिजात्यवर्गीय प्रजातंत्र था, जो यूरोप की जनता को स्वर्ग का स्वप्न दिखा कर आर्थिक शोषण की नींव स्थापित कर रहा था। जनता स्वर्ग को धरती पर उतारने के काल्पनिक सुख में आत्म-विभोर थी। बुद्धिवाद, जिसने कि इस प्रजातंत्र को जन्म दिया था, इस काल्पनिक सुख की भावना का जनक था। फ्रांस की राज्य-क्रांति ने भी एक अर्से तक इस बुद्धिवाद के प्रसार में योग दिया। आम जनता का विश्वास था कि यह प्रजातंत्र जो कि उसने हाल ही में प्राप्त किया था उसके जीवन के लिए शाश्वत शान्ति का जनक होगा और सामन्त-युग के बर्बर युद्धों से उसे त्राहि मिलेगी। भौतिक विज्ञान की उन्नति ने वैसे ही मनुष्य को प्रकृति से अधिक शक्तिशाली सिद्ध किया था। फलस्वरूप इस युग का मानव शाश्वत शांति की कल्पना के सप्तरंगी आँचल में खोया-सा था। पूँजीवादी प्रतिनिधि-तंत्र में धर्म का स्थान एक प्रकार से भौतिक विज्ञान ने ले लिया। अस्तु, १९ वीं सदी की सभी समाजवादी क्रांतियाँ असफल हुईं, उनका कारण आम जनता का इस प्रजातंत्र के प्रति मोह ही है। किन्तु फ्रायड और मार्क्स ने जो निष्कर्ष इस व्यवस्था के परिणाम के रूप में निकाले उनसे पिछली शताब्दी का कल्पना-नीड़ एक झटके के साथ नीचे आ गया। मार्क्स ने कहा था पूँजीवाद की चरम परिणति साम्राज्यवाद में है और जिसका अनिवार्य परिणाम है भूख, अकाल, शोषण और बेकारी। फ्रायड की धारणा विचित्र थी, पर निर्णय निराशा से पूर्ण ही था।

अब मूल विषय पर आइये।

फ्रायड ने मन के तीन स्तरों की कल्पना की है। ये हैं (१) चेतन (२) अर्द्धचेतन और (३) अवचेतन। साधारण सामाजिक जीवन में हमारा चेतन मन क्रियाशील रहता है। हमारे चेतन मन की क्रियाओं का हमें ज्ञान रहता है, परन्तु अवचेतन मन हमारे लिए अज्ञेय तथा रहस्यपूर्ण है। हमारे मन की यह पर्त्त अनेकों अविवेकशील शक्तियों का पुञ्ज है। फ्रायड ने मनोवैज्ञानिकों का ध्यान मन की इस पर्त्त की ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया। उनका कथन है कि हमारी ऐसी इच्छाएँ जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है उन्हें हमारा चेतन मन सामाजिक प्रभाव के कारण दमन करता रहता है और फलतः वे मन की इस पर्त्त में आकर केन्द्रित हो जाती हैं। मन की इन दमित, अविवेकशील शक्तियों के कुछ निश्चित नियम भी हैं जो प्रयत्न द्वारा बुद्धिगम्य किये जा सकते हैं।

मन की इन पर्त्तों की स्थिति का विश्लेषण करते हुए फ्रायड ने एक शिलाखंड का उदाहरण दिया है जो पानी में तैरता रहता है और जिसका केवल चतुर्थांश ही जल के ऊपर है तथा शेष जल के नीचे दृष्टि के क्षेत्र से बाहर रहता है। ठीक इसी प्रकार मन का चतुर्थांश के क़रीब अर्थात् बहुत छोटा-सा हिस्सा चेतन है तथा शेष अतल, अज्ञेय और रहस्यपूर्ण अवचेतन। अर्द्धचेतन इन दोनों के बीच की पर्त्त हैं। इसे फ्रायड ने द्वार (Door) कहा है। इसी में होकर अवचेतन की प्रवृत्तियाँ चेतन में प्रवेश करने का प्रयत्न करती हैं और उसके सुषुप्ति-काल में अभिव्यक्त होती हैं। यह स्वप्न या कला-सृजन की अवस्था है।

हमारे चेतन और अवचेतन मन में दो मूल अन्तर विद्यमान हैं। (१) अवचेतन मन हमारे चेतन मन की अपेक्षा वृहदाकार तथा शक्तिशाली है। (२) दोनों का स्वरूप पूर्णतः पृथक् पृथक् है अर्थात् दोनों में रहने वाली इच्छाएँ तथा मनोभावनाएँ परस्पर विपरीत तथा द्वंद्वात्मक हैं। इन्हीं के फलस्वरूप व्यक्ति के चेतन तथा अवचेतन मन में सदैव संघर्ष चलता रहता है। हमारे वाह्य जीवन का संघर्ष इसी आन्तरिक संघर्ष की छाया है। अपनी इसी बात को दर्शन के क्षेत्र में लेजाकर फ्रायड ने काण्ट के दर्शन की पुनरावृत्ति की और अवचेतन मन को काण्ट प्रतिपादित 'प्रतीयमान' जग की सत्ता माना है।

चेतन मन में हमारी सभी इच्छाएँ नहीं रहतीं। इस स्तर पर हमारी वे ही इच्छाएँ रहती हैं जो प्रचलित सामाजिक नैतिकता की कसौटी पर

खरी उतरती हैं और जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त है। किन्तु अवचेतन मन हमारी सभी दमित, निर्वासित एवम् अतृप्त इच्छाओं का कोष है। वे सभी इच्छाएँ यहाँ आकर एकत्रित हो जाती हैं जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। दूसरे शब्दों में, अवचेतन मन व्यक्ति के जीवन का असामाजिक भाग है।

सेंसर : अवचेतन मन में स्थित ये असामाजिक इच्छाएँ बार-बार चेतन मन में आने का प्रयास करती हैं। इनकी रोकथाम के लिये फ्रायड ने एक 'प्रतिबन्धक' की कल्पना की जो हमारी सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है। इसे मनोविश्लेषकों ने 'लॉजिक' (तर्क) भी कहा है। यह हमारी दमित वासनाओं को चेतन में प्रवेश करने से रोकता है। इस प्रकार से अवचेतन की समस्त असामाजिक इच्छाओं का दमन निरन्तर होता रहता है। यही दमन आन्तरिक तथा वाह्य संघर्ष का प्रतीक है। इससे विभिन्न मानसिक ग्रंथियों की सृष्टि होती है जिनकी अन्तिम परिणति, व्यक्ति को 'न्यूरोसिस' का शिकार बना देती है। परन्तु काला बाजार और रिश्वतखोरी के विरुद्ध बनाए प्रतिबन्धों की भाँति ही यह प्रतिबन्ध नाम मात्र को रह जाता है और अवचेतन स्थित दमित इच्छाएँ अपने निकास का पथ खोज लेती हैं।

श्रेष्ठीकरण : इन दमित इच्छाओं को जब कि वे अवचेतन से अभिव्यक्त होना चाहती हैं, अपने रूप में परिवर्तन करना अनिवार्य है। क्योंकि उनके मौलिक रूप में समाज उन्हें किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं कर सकता। इस रूप-परिवर्तन का कारण हमारे अवचेतन और हमारे चेतन मन का पारस्परिक समझौता है, जिसमें हीन घृणित तथा असामाजिक इच्छाएँ भी श्रेष्ठरूप धारण करके आती हैं। फ्रायड ने इच्छाओं के इस प्रकार के श्रेष्ठीकरण को 'Sublimative' कहा है। हिन्दी में इसे विभिन्न नाम दिए गए हैं। नगेन्द्र जी ने इसे आत्मसंस्कार कहा है। फ्रायड के अनुसार कला भी इसी श्रेष्ठीकरण का एक अंग है।

फ्रायड द्वारा की गई मन के अवचेतन स्तर की कल्पना मनोविज्ञान के क्षेत्र में कोई नई चीज नहीं है। फ्रायड से वर्षों पहिले हेनरी मौडस्ले आदि कई विद्वानों ने इंद्रियों द्वारा प्राप्त सभी संस्कारों के मस्तिष्क में विलीन होने की बात कही थी। और बतलाया है कि ये विलीन संस्कार चेतना से तो एक साथ लुप्त हो जाते हैं, किन्तु नष्ट नहीं होते। उनकी स्थिति वायु-मंडल में वाष्प बन कर विलीन हुए पेट्रोल की तरह की रहती है जिन्हें कभी भी एक चिंगारी लगाकर प्रज्ज्वलित किया जा सकता है।

इसी प्रकार फ्रायड के इस दमित वासना के अवचेतन से चेतन में आने के मनोविज्ञान को क्रान्तिकारी नहीं माना जा सकता। क्योंकि एक ओर वह जहाँ नूतनता से रिक्त है, वहीं दूसरी ओर वह ईसाइयत के सिद्धांतों की पुष्टि का प्रयत्न भी करता दिखाई देता है। फ़ायड के मतानुसार यद्यपि अवचेतन में रहने वाली इच्छाएँ असामाजिक हैं और उन्हें चेतन मन ने अपने क्षेत्र से निर्वासित कर दिया है, तथापि वे उसकी सीमा में किसी न किसी प्रकार प्रवेश कर ही जाना चाहती हैं। यह धारणा ईसाइयत के शैतान के प्रसंग से मिलती है जिसे यहोवा ने अपने राज्य से निर्वासित कर दिया है, किन्तु फिर भी वह मौक़ा पाते ही अपने पाप-कर्म पर उतारू हो ही जाता है।

फ़ायड इन्हीं असामाजिक प्रवृत्तियों को जीवन की मूल प्रेरणाप्रद शक्ति मानता है और इस प्रकार व्यक्ति और समाज के पारस्परिक द्वन्द्व पर अपने मनोविज्ञान को खड़ा करता है।

फ्रायड ने मन को तीन अन्य भागों में और विभाजित किया है। वे इस प्रकार हैं: (१) अहं, (२) समष्टिगत नैतिक अहं, (३) इड : अवचेतन प्रवाह। अहं को फ्रायड ने चेतन की ही अभिव्यक्ति कहा है। अहं सदैव इस ओर प्रयत्नशील रहता है कि समष्टिगत नैतिक अहं से सामंजस्य स्थापित हो। इस प्रकार संतुलन स्थापित करने के लिए अवचेतन प्रवाह की प्रवृत्तियों का दमन आवश्यक हो जाता है। ये प्रवृत्तियाँ आदिम होती हैं। 'आदिम' शब्द यहाँ महत्त्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि फ्रायड मन के अवचेतन रूप को पूर्णतः अपरिवर्तनशील मानते हैं और आज भी उसकी प्रवृत्तियों को आदिम युग के ही प्रकार की मानते हैं। सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की इन आदिकालीन प्रवृत्तियों का दमन तीव्रतर होता जा रहा है और फलस्वरूप आज के मानव के विक्षिप्त होने की सम्भावनाएँ अधिक बढ़ गई हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति की बर्बर तथा असामाजिक प्रवृत्तियों का दमन करना उसके पागल बनाने की सम्भावना को और अधिक बढ़ाना है। और सभ्यता के विकास ने इन सम्भावनाओं को और अधिक विकसित कर दिया है। धन्य रे मनोविज्ञान और धन्य डॉ० नगेन्द्र जिन्होंने इसे इतनी श्रद्धा से पकड़ा। कला और संस्कृति के निर्माण के सम्बन्ध में फ्रायड का मत है कि कला और संस्कृति का निर्माण तब तक ही होता रहता है जब तक व्यक्ति अपने अवचेतन की असामाजिक दमित काम कुण्ठाओं के श्रेष्ठीकरण में समर्थ रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कला और संस्कृति का निर्माण तब तक ही होता है जब तक कि व्यक्ति की अव-

चेतन स्थिति-असामाजिक अंश-चोरी-चुपके निकास पाता रहे, फ्रायड की शब्दावली में 'सबलीमेशन' होता रहे। अर्थात् कला और संस्कृति फ्रायड के मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति की असामाजिकता की श्रेष्ठीकरण प्राप्त अभिव्यक्ति है। कला और संस्कृति की इस कुत्सित व्याख्या को अपनाकर प्रगतिवाद के विरोधी फ्रायड-भक्त बन कर भारतीयता की रक्षा का दम भरते हैं और आत्म-संस्कार शब्द के आवरण में दमित काम-कुण्ठाओं को ही कला और संस्कृति मानते हैं। गोया आज तक की संस्कृति, कला और साहित्य व्यक्ति की असामाजिकता की ही अभिव्यक्ति हो।

'काम' को फ्रायड ने जीवन की मूल प्रेरणा कहा है। व्यक्ति के अन्तर्मन में यही काम सम्बन्धी वर्जनाएँ घनीभूत हैं। यह तो निश्चित ही है कि समाज व्यक्ति की इस प्रकार की यौन-वर्जनाओं की स्वच्छंदता को मान्यता नहीं देता है। फलतः व्यक्ति और समाज का द्वंद्व होता है। विकास के पथ में सामाजिक रूढ़ि की परम्परा अपने को परिवर्तित नहीं कर पाती और इसी कारण व्यक्ति की यौन-वर्जनाओं का उससे संघर्ष होता है। इस संघर्ष में व्यक्ति की पराजय निश्चित है।

'काम' की मूल ग्रंथि के विकास की तीन स्थितियाँ हैं—(१) आत्म सम्मोह, (२) मातृरति और (३) विजातीय रति। आत्म-सम्मोह में व्यक्ति स्वयं पर आसक्त रहता है। इस अवस्था के बाद लड़का अपनी माता से तथा लड़की पिता के प्रति आसक्त रहती है। यह मातृरति की अवस्था है। इसे फ्रायड ने एक ग्रीक योद्धा के नाम पर ओडीपस ग्रंथि कहा है। इसमें कभी कभी विपर्यय के उदाहरण भी मिलते हैं। जब लड़का अपने पर नारीत्व का तथा लड़की पुरुषत्व का आरोप या उसका भावन करके पिता या माता से प्रेम तथा घृणा करते हैं।

फ्रायड स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार के यौन-सम्बन्धों को सामाजिक नैतिकता मान्यता नहीं देती। अस्तु ज्योंही व्यक्ति की सामाजिक चेतना जागरूक हुई कि इस प्रकार की भावनाएँ नीचे के तल में अर्थात् अवचेतन में उतरना प्रारम्भ कर देती हैं। यहाँ पर ये एक सीमा तक घुटती रहती हैं और उनकी यह घुटन उन्हें मानसिक ग्रन्थियों के रूप में परिवर्तित कर देती हैं। इन मानसिक ग्रन्थियों के प्रकटीकरण के लिये फ्रायड ने कुछ रास्तों की कल्पना की है : ये हैं—कला-सृजन, स्वप्न, दैनिक जीवन की भूलें, तथा विक्षेप आदि। फ्रायड के मतानुसार मातृरति की अवस्था से विजातीय रति की अवस्था तक पहुँचने के बीच में स्ववर्गीय रति की स्थिति आती है।

फ्रायड के इसी मूल मनोविज्ञान को दृष्टि में रखते हुए हमें उनके कला सम्बन्धी विचारों को जानना है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि फ्रायड के अनुसार कला दमित तथा असामाजिक कुण्ठाओं का श्रेष्ठीकरण-कृत स्वरूप है। सामाजिक मान्यताओं के कारण हमारा चेतन मन हमारे मन की अविवेकशील काम-भावना को दबाता रहता है। यही दमित काम-वासना मानसिक ग्रन्थियों का रूप धर अवचेतन में जम जाती हैं, और वहाँ से अपने निकास का अहर्निश प्रयत्न करती रहती हैं। इस प्रयत्न में उन्हें समष्टिगत नैतिक अहं से समझौता करना पड़ता है। फलस्वरूप उनके स्वरूप में काफ़ी अन्तर हो जाता है। अतः ग्रंथियाँ प्रतीक रूप में प्रकट होकर स्वप्न में छायाचित्रों तथा कविता में भावचित्रों की सृष्टि करती हैं। हिन्दी के महाकवि तुलसीदास जहाँ भी सौंदर्य का चित्रण करते हैं वे केवल भावचित्र प्रस्तुत करके रह जाते हैं, जैसे: 'छवि गृह दीप-शिखा जनु बरई' या 'शोभा रज्जु मंदर सिंगारू' वाला रूपक। फ्रायडवादी आलोचक इसे अतृप्त काम-ग्रंथि की ही अभिव्यक्ति कहेगा।

कला के उद्गम पर मनोविश्लेषक फ्रायड का दृष्टिकोण हम देख चुके हैं। उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उनका मत है कि मानसिक ग्रंथियों की इस प्रकार की श्रेष्ठीकरण-कृत अभिव्यक्ति मन को केवल एक झूँठा आश्वासन है, कल्पना है, विभ्रम है, धोखा है। इस प्रकार का समझौता ग्रंथियों की अभिव्यक्ति का प्रकृत पथ न होकर एक प्रकार का भुलावा है। कारण यही है कि आखिर हम हैं तो सामाजिक प्राणी ही न? अस्तु, अन्तर्प्रवृत्तियों का दमन होने पर भी हम उससे विवशता पूर्ण समझौता बनाए रखना चाहते हैं। अतः मानसिक ग्रंथियों की इस प्रकार हुई श्रेष्ठीकरण-कृत अभिव्यक्ति न तो उसकी वास्तविक और प्रकृत अभिव्यक्ति ही है और न उससे इन वृत्तियों को संतोष ही होगा, न उपभोग ही। अस्तु, फ्रायड ने इसीलिए कला को एक विभ्रम कहा है।

"These illusions are derived from the life of phantasy which, at the time when the sense of reality developed, was expressly exempled from the demands of the reality test and set apart for the purpose of fulfilling wishers which would be very hard to realize. At the head of these fantasy pleasures stands the enjoyment of works of art

which through the agency of the artist is opened to those who cannot themselves create".

(Freud: Civilization and its discontents, P.P. 55)

इसी प्रकार कवि द्वारा संयोजित विभ्रम को भी फ्रायड ने दिवा-स्वप्न कहा है। उनके मतानुसार कलाकार मूलतः एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसके राग-विराग विशेष तौर पर अन्य व्यक्तियों से तीव्र तथा असाधारण होते हैं। वह यथार्थ से पलायन कर कल्पना के छायाचित्रों की सृष्टि करता है। इस सम्बन्ध में फ्रायड के निम्न शब्द विचारणीय हैं :

"The artist is originally a man who turns from reality because he cannot come to terms with the demand for the renunciation of individual satisfaction as it is first made, and who them is phantasy-life allows full play to his erotic and ambitious wishes. But he finds a way to return from this world phantasy back to reality; with his special gifts he moulds his phantasy into a new kind of reality, and may concede them a justification at valuables reflections of actual life. Thus by a creation path he actually becomes the hero, king, creator, favourite, he desired to be, without the circuitous path of creating real alterations in the outer world".

(Freud: The relation of the poet to day-dreaming: Collected papers, P. P. 183)

फ्रायड कला को अतिरिक्त धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। वे इसे हमारे जीवन के अभाव-प्रसूत सहज क्रिया स्वीकार करते हैं।

व्यक्ति द्वारा होने वाली प्रत्येक क्रिया का कुछ न कुछ मानसिक आधार होता है। और उस क्रिया के पीछे कोई गूढ़ मनोभावना अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य कार्य करती है, जो एक तात्विक अर्थ रखती है। यहाँ तक कि हमारे दैनिक जीवन में होने वाली भूलें भी अचेतन मन की किसी ग्रंथि के ही आग्रह का परिणाम हैं। अतः काव्य के क्षेत्र में प्रतीकों और अलंकारों का भी कोई

निश्चित मनोवैज्ञानिक आधार रहता है, बशर्ते कि वे केवल रूढ़ि मात्र न हों। इस प्रकार के प्रतीकों से कलाकार के अन्तर्जगत का वृहद् सम्बन्ध रहता है।

इस विश्लेषण के आधार पर हम फ्रायड के कला-सम्बन्धी विचारों को इस प्रकार रख सकते हैं :

मूल प्रेरणा : (१) जीवन की मूल प्रेरणा काम-वासना है। वही दमित काम-कुण्ठाओं के रूप में कला की मूल प्रेरणा है।

स्वरूप : (२) कला दमित कामवासना का श्रेष्ठीकरण किया हुआ स्वरूप है जिसमें इच्छाएँ समाज से समझौता करने के लिये रूप-परिवर्तन करके उपस्थित होती हैं। इस प्रकार के रूप-परिवर्तन के द्वारा दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति का पथ प्रकृत पथ नहीं है, वरन् एक भुलावा है, विभ्रम है।

शैली : (३) कला के क्षेत्र में दमित काम-चेतना प्रतीकों के सहारे अभिव्यक्त होती है। अतः कला-सृजन में प्रतीकों का बहुत बड़ा भाग है।

जीवन-दर्शन : (४) कलाकार जीवन संघर्ष से पराङ्मुख होकर इस प्रकार छायालोक की सृष्टि करता है और वहाँ पर अपनी कल्पना का सतरंगी ताना-बाना बुना करता है। कला जीवन संघर्ष से पलायन है।

(५) कला का नैतिकता या धर्म आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है।

संक्षेप में, फ़ायड के कला-सम्बन्धी यही विचार हैं जिनके आधार पर हिन्दी में एक नूतन आलोचना प्रणाली को विकसित किया जा रहा है। ये सिद्धान्त कहाँ तक ठीक हैं और साहित्यालोचन के लिये किस सीमा तक उपयुक्त हैं यह यहाँ हमारा विश्लेष्य नहीं। क्योंकि अभी यह प्रणाली पथ में ही है। और जब तक उसका पूर्ण विकास न हो जाय तब तक उसके सम्बन्ध में निर्णय देना उचित नहीं होगा।

हिन्दी में फ्रायड के इस सिद्धान्त को आलोचना के क्षेत्र में व्यवहृत करने वाले आलोचकों में डॉ० नगेन्द्र, इलाचन्द जी (एक सीमा तक ही) तथा अज्ञेय जी प्रमुख हैं। इनमें डॉ० नगेन्द्र फ्रायड के मनोविज्ञान-मात्र को केवल शुद्ध मनोविज्ञान मानने वाले हैं। साहित्य की मूल प्रेरणा के सम्बन्ध में उनके विचार देखिए :

(१) साहित्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है।

(२) यह प्रेरणा व्यक्ति के अन्तरंग, अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म व अनात्म के संघर्ष से उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जानबूझ कर प्राप्त नहीं की जा सकती।

(३) हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें काम-वृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म व अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है, और चूंकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, उसकी प्रेरणा में काम-वृत्ति की मुख्यता असंदिग्ध ही है।"

यह स्मरण रखने की बात है कि डॉ० नगेन्द्र ने फ्रायड के अवचेतन और चेतन के लिए आत्म और अनात्म की शब्दावली का प्रयोग किया है और इस प्रकार आत्म (जिसको कि शुद्ध आत्मा माना जाता है) के परदे के पीछे डॉ० नगेन्द्र फ्रायड के असामाजिक, दमित और निर्वासित काम-कुण्ठाओं के पुंज अवचेतन को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। अवचेतन की असामाजिक काम-कुण्ठाओं के पुञ्ज अवचेतन को पवित्र, शाश्वत, नित्य और निर्विकल्प रूप देने के लिए आत्म शब्द की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। अस्तु, उनकी आलोचना में प्रयुक्त यह आत्म शब्द भारतीय दर्शन में व्यवहृत आत्मा का पर्याय न होकर फ्रायड के अवचेतन का पर्याय है। जैसा कि वे स्वयं स्वीकार करते हैं :

"मैं जीवन को अहम् का जगत से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूँ।

और चूंकि आत्म के निर्माण में कामवृत्ति और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिये इस प्रेरणा में (आत्माभिव्यक्ति) उनका विशेष महत्त्व मानना भी अनिवार्य समझता हूँ·······

जिस व्यक्ति के अहम् और वातावरण में या विवृति और कर्त्तव्य में अथवा फ्रायड की शब्दावली में अंतर्चेतन और निरीक्षक चेतन के बीच जितना अधिक संघर्ष होगा उसकी प्रतिभा उतनी प्रखर होगी।"

इससे यह सरलता से स्पष्ट हो जाता है कि डॉ० नगेन्द्र का यह आत्म-तत्व फ्रायड का अंतर्चेतन मात्र है, जिसमें असामाजिक दमित और अतृप्त कामेच्छाएँ भरी पड़ी हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि साहित्य की मूल प्रेरणा के सम्बन्ध में नगेन्द्र जी के उक्त निष्कर्ष, जो पूर्णतः फ्रायडवादी आधार

पर निकाले गए, कहाँ तक तथ्यपूर्ण, वैज्ञानिक और युक्तिसंगत हैं। क्या साहित्य अतृप्त कामवृत्तियों की ही अभिव्यक्ति है ? अथवा उसका कुछ सामाजिक आधार भी है।

वस्तुतः इस प्रकार का निष्कर्ष पूर्णतः भ्रामक है। क्योंकि साहित्य एक सामूहिक चेतना है और उसका वास्तविक आधार कोई अन्तर्चेतन न होकर जन-मानस ही है। इसी आधार पर आज तक का साहित्य अपने आप को समाज का प्रतिबिम्ब कहता आया है, न कि अन्तर्चेतन की अभिव्यक्ति। साहित्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि साहित्य और समाज का अनिवार्य सम्बन्ध है और साहित्य समाज की चित्तवृत्ति को प्रतिबिम्बित करने वाला दर्पण है। और भी एक प्रश्न है : क्या आज तक के साहित्य की विराट् संचित निधि को कुछ गिने-चुने व्यक्तियों की दमित काम-वासना की अभिव्यक्ति माना जा सकता है ?

व्यावहारिक रूप से तो इन सिद्धान्तों को अपना लेने के कारण आलोचना विविध असंगतियों का कोष हो जाती है। नगेन्द्र जी की आलोचना इसका तथ्य-पूर्ण प्रमाण है। उन्होंने एक ओर जहाँ प्रेमचन्द को सृष्टा कलाकारों की द्वितीय कोटि में बिठा दिया ('विचार और अनुभूति', वाणी के न्याय मन्दिर में) वहीं दूसरी ओर उन्हें तुलसीदास की समानता में भी रखा है ('विचार और विवेचन') और इस प्रकार तुलसीदास भी दूसरी कोटि के कलाकार हुए। इसी प्रकार प्रसाद जी को 'गहरे जीवन-द्रष्टा' तथा 'आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को' देखने और सहने वाला मानकर भी पलायनवादी बनाया। इसी प्रकार वे प्रयोगवादी कविता को 'काव्य नहीं रह गई है' मान कर भी उसके अस्तित्व को साहित्यिक स्वीकार करते हैं।

यह तो हम पहले ही कह आए हैं कि फ्रायड का मनोविश्लेषण शास्त्र आधुनिक युग के व्यापक मनोविज्ञान का एक अंग मात्र है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक आलोचना की जो धारा प्रचलित है उसमें इलाचन्द जी का स्थान अन्यतम है। इलाचन्द जी इस दृष्टिकोण से समन्वयवादी रहे हैं। जहाँ डॉ० नगेन्द्र केवल फ्रायड के मनोविश्लेषण को ही शुद्ध मनोविज्ञान मानकर केवल उसी को साहित्यालोचन का एकमात्र आधार मानने का आग्रह करते हैं वहाँ इलाचन्द जी का दृष्टिकोण अधिक व्यापक तथा समन्वयकारी रहा है। फ्रायड के दृष्टिकोण की संकीर्णता से और उसके घातक प्रभाव से वे परिचित जान पड़ते हैं। इसीलिए आलोचना के क्षेत्र में भी वे फ्रायड और मार्क्स को मिलाने की बात करते हैं। उनका मत है।

'मार्क्स और फ्रायड ये दोनों महारथी एक ही मूल सत्य के दो छोरों के प्रतिनिधि हैं।' कला के स्वरूप के सम्बन्ध में भी उनका दृष्टिकोण फ्रायड और मार्क्स, अन्तर्मन और-चेतन मन के समन्वय को लेकर चला है।

'बिना सचेतन मन के विश्लेषण के अवचेतन मन के भीतर से अंधवेग से प्रस्फुटित हुई कला जितनी ही हानिकर है उतनी ही हानिकर है वह कला, जो बाह्य जगत की विचारधारा के साथ केवल सचेतन मन की ऊपरी तह तक टकरा कर रह जाती है।'

इसी प्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी वे केवल फ्रायडियन दृष्टिकोण मात्र को नहीं मानते। अपने इसी स्पष्ट दृष्टिकोण के कारण वे छायावादी कविता के, जो कि अन्तर्मन की अतृप्त काम भावना की ही है, उतने ही घोर विरोधी बन गए थे जितने कि प्रगतिवादी आलोचक। यह दूसरी चीज़ है कि हम इलाचन्द जी के दृष्टिकोण से सहमत न हों, पर उनके दृष्टिकोण की ईमानदारी में अविश्वास नहीं किया जा सकता।

आलोचना के क्षेत्र में अज्ञेय जी का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। उनका कोई विशेष दृष्टिकोण भी नहीं। यथावसर वे अपना दृष्टिकोण बदलते रहते हैं। वे हिन्दी सहित्य के क्षेत्र में 'प्ले-बैक' की तरह हैं जो स्वयं आगे न आकर, एकांगी रहते हुए भी हिन्दी के क्षेत्र में हलचल उत्पन्न करते रहते हैं। रूढ़ि प्रेम और प्रयोगशीलता दोनों ही उनके व्यक्तित्व के दो अंग हैं। अपने यौन सम्बन्धी दृष्टिकोण में वे फ्रायड से प्रभावित हैं और सामाजिक रूढ़ि के विरोधी दिखाई देते हैं। वहीं अपने इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण में इलियट के भक्त बनकर रूढ़ि की दुहाई देते नज़र आते हैं। हिन्दी में केशवदास को किसी ने सर्वाधिक महत्त्व दिया तो अज्ञेय ने। अज्ञेय को केशवदास की विविध छन्दमयी रचना में जो प्रयोगशीलता जँची कि वे बाग़-बाग़ हो गए। किन्तु यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय अपने आलोचनात्मक निबन्धों में फ्रायड के मनोविज्ञान का उपयोग कराने में प्रायः असफल रहे हैं, या उन्होंने किया ही नहीं। उनका महादेवी और मीरा पर लिखा गया तुलनामूलक निबन्ध (त्रिशंकु में संग्रहीत) इस तथ्य का साक्षी है।

उपर्युक्त विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि फ्रायड के मनोविज्ञान को लेकर हिन्दी में आलोचना की कोई सशक्त धारा प्रवाहित नहीं हुई है। जिसने हिन्दी के सम्पूर्ण साहित्य को नापा हो। आंशिक रूप में विभिन्न आलोचकों ने फ्रायड के मनोविज्ञान का उपयोग किया है। फ्रायडवादी आलोचना

की चर्चा का कारण हिन्दी में प्रवाहित मनोवैज्ञानिक आलोचना की धारा है जिस पर फ्रायड का काफ़ी प्रभाव पड़ा है और कुछ हिन्दी वालों का भ्रम है जो मनोविज्ञान और फ्रायड के मनोविश्लेषण को एक मानकर चलते हैं। इसी नाते एक अर्से तक लोग अभी भी इलाचन्द जी को फ्रायडवादी कहते हैं। केवल फ्रायड के मनोविज्ञान को आधार मानकर जो आलोचना अभी तक हिन्दी में हुई है वह अत्यन्त अल्प परिमाण में है। केवल डॉ० नगेन्द्र ही ऐसे आलोचक हैं जो पूर्ण रूप से फ्रायड के अनुयायी हैं और उसके मनोविश्लेषण को शुद्ध मनोविज्ञान कह कर साहित्य के मूल्यांकन का प्रयत्न कर रहे हैं और फिर डॉ० नगेन्द्र फ्रायडवादी बने भी तो देर से : पहिले तो वे समन्वय की बात सोचते रहे। पर अब कल के रसवादी डॉ० नगेन्द्र ने फ्रायड को पल्ला कस कर पकड़ लिया है और अपनी नई आलोचनाओं में वे फ्रायड के मनोविज्ञान को अधिकाधिक लागू करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

आई.ए.रिचार्ड्स और भाव-प्रेषण की समस्या

आत्माभिव्यक्ति और परबोध दोनों ही साहित्य के समान महत्वपूर्ण अंग हैं—दोनों ही ऐसे तत्व हैं, जिन पर न केवल साहित्यकार की सामाजिक चेतना का नियमन तथा वितन्वन होता है वरन् उसके सामाजिक उत्तरदायित्व को स्थिर करने का आधार भी ये ही तत्व हैं। दोनों ही अन्योन्याश्रित तथा परस्परपूरक हैं।

भावप्रेषण की समस्या को ही साहित्य समीक्षकों ने परबोध की समस्या कहा है। कवि या लेखक जब कला सृजन करता है तो उसका ध्येय स्पष्ट रूप से अपना अनुभव दूसरों तक पहुँचाने का रहता है, यह एक निर्विवाद सत्य है और न ही इससे इन्कार ही किया जा सकता है। इसी महान् लक्ष्य की साधना के लिए साहित्यकार अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न साधनों का प्रयोग करता है—विविध माध्यम चुनता है और अपनी बात दूसरों तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है। साहित्य के विविध अंगों के विकास की कहानी, साहित्यकार के इसी प्रयास की कहानी है। कविता से प्रारम्भ हुए साहित्य का प्रवाह आज अनेक स्रोतों में होकर बह रहा है। स्वानुभूत को व्यापक विराट तक पहुँचाने के लिए, नूतन अनुभव की सुष्ठु एवं सफल व्यंजना के लिए, कलाकार ने नाटक और आख्यान-काव्य के माध्यम खोजे। पर जब अभिव्यंजना के ये साधन भी अपूर्ण एवं पर्याप्त सक्षम प्रतीत न होने लगे तो उपन्यास, कहानी और एकांकी की द्विधाओं ने जन्म लिया। और उसके बाद स्केच, रिपोर्ताज़, ध्वनि नाटच, गीति-नाटच, रेडियो-रूपक से लेकर 'पोपट' की कहानी तक न जाने साहित्य के कितने अंग जन्म ले रहे हैं—जो मनुष्य के इसी प्रयास के प्रतिफल हैं। भाषा में यह शब्दों की अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य आदि शक्तियों का विकास भी इसी क्रम से हुआ। साहित्य के अंगों के विकास के साथ ही भाषा की अभिव्यंजना शक्ति के विकास और उसकी परिवर्त्तनीयता पर विचार किया जाए तो साहित्य के विकास की गूढ़ और जटिल प्रक्रिया का पता लग सकता है। साहित्य मनुष्य की कितनी गूढ़ और जटिल मानसिक क्रिया है—यह इससे स्पष्ट है। इस प्रयास में लेखक शब्द के अपने छोटे से रूप में भी व्यापक अर्थ भरने का प्रयत्न करता है। भाषा के क्षेत्र में इसी कारण शब्दों का विशिष्टीकरण हुआ। कला के क्षेत्र में इसी से शब्द-विन्यास की क्रिया प्रारम्भ हुई। किन्तु बावजूद इन प्रयत्नों के यह सही है कि व्यक्ति (लेखक) अपने

अनुभव को ठीक उसी रूप में पाठक तक प्रेषित नहीं कर पाता जिस रूप में कि उसने स्वयं अनुभव किया है। उसके स्वानुभव में जो तीव्रता तथा मौलिकता होती है—ठीक उसी तीव्रता एवं मौलिकता का अनुभव पाठक नहीं कर पाता। यथार्थ से यथार्थ कृति में भी—जिसके लेखक अनुभव को फोटोग्रेफिक ढंग से ही प्रक्षेपित क्यों न करे पाठक के अनुभव और लेखक के अनुभव में एक प्रकार का परिमाणात्मक अन्तर विद्यमान रहता है। पाठक के अनुभव में तीव्रता का परिमाण लेखक की अपेक्षा कम रहता है। इसे यदि गुणात्मक रूप से स्वीकार करें तो मानना होगा कि पाठक का अनुभव जीवन की मौलिक प्रक्रिया पर आधारित न होकर काव्य के माध्यम से प्राप्त होता है; अतः अपरागत (Second-hand) है। लेखक की सफलता इसी में है कि पाठक तक पहुँचने में उस अनुभव की तीव्रता में कमी न हो—वरन् वह वैसा ही बना रहे—जैसा कि लेखक ने स्वयं अनुभव किया है।

निश्चय ही, यह एक विकट समस्या है, पर क्या इससे यह भी कहा जा सकता है कि यह समाधान से परे भी है।

रिचार्ड्स ने समस्या को समाधान से परे माना—और उसके आगे उनके समीक्षा के मानदंड ने अपने घुटने टेक दिए। रिचार्ड्स अंग्रेजी के उन प्रसिद्ध समीक्षकों में से हैं—जो साहित्य और जीवन के घनिष्ट सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। अंग्रेजी समीक्षा में उनका आचार्य शुक्ल के समान ही स्थान है; न केवल एक महान् समीक्षक के नाते, वरन् अनेक विषयों पर उनके विचार शुक्ल जी के विचारों से मेल खाते हैं।

मैं रिचार्ड्स के समीक्षा-सिद्धांतों का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि उन्होंने भाव-प्रेषण की समस्या पर विचार कर जो अजीबोग़रीब निष्कर्ष निकाले हैं—उनसे उन्हीं की पूर्व समस्याओं का निषेध होता है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' के एक अध्याय में उन्होंने इस समस्या पर विचार किया। काफ़ी विचार-विमर्श करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह समस्या समाधान से परे है। साहित्य आगे चलकर अधिक दुरूह होता जाएगा और कुछ सीमित लोगों के उपयोग की ही वस्तु रह जाएगा। उन्होंने इसका कारण बतलाया कि साहित्यकार या कवि के काव्य का आधार वह अनुभव है जो जनसाधारण से परे है। क्योंकि आधुनिक पाठक अभी अपनी मध्ययुगीन स्थिति से आगे नहीं बढ़ सका है, जब कि कवि को चेतना का केन्द्र-विन्दु होने के नाते युग की व्यापक चेतना का अपने में समाहार करके चलना

पड़ता है। अतः उसका कृतित्व व्यंजना के जिन उपकरणों से निर्मित है उसे समझने में अधिकांश पाठक असमर्थ हैं। इसके साथ ही 'Conscious Planning' से दूर रहते हुए भी रहस्यमय मानवीय सम्भावनाओं के आधार पर संतुलन प्राप्त करने का जो रहस्यवाद आलोचना के द्वारा उन्होंने काव्य में प्रविष्ट कराया उसने काव्य की अर्थवानता को ही अस्वीकृत कर दिया, जिसके अनुसार कविता में अर्थ का होना कोई आवश्यक वस्तु नहीं है। फिर भी अनुभव को प्रेषित करने पर एक अध्याय लिखा गया। इस रहस्यवाद के अनुसार काव्य अर्थ-हीन होकर भी भाव की व्यंजना में सक्षम हो सकता है।

रिचार्ड्स की इन स्थापनाओं ने व्यवहार में अत्यन्त हास्यास्पद स्वरूप ग्रहण किया। एक दुरूह, अर्थहीन कविता धारा का प्रवर्त्तन हुआ जो अपनी अबोधगम्यता के लिए अंतर्राष्ट्रीय ख्याति (कुख्याति) प्राप्त कर चुकी है—इसके प्रवर्त्तकों में टी. एस. इलियट का प्रमुख स्थान है। देश-देश के अति सभ्य या रिचार्ड्स के शब्दों में आधुनिक युग की व्यापक चेतना के केन्द्रबिन्दु कवियों ने अपने उद्धत प्रयत्नों को प्रयोग कह कर अपना यशस्तम्भ खड़ा किया।

इस विवेचन के साथ ही हमें रिचार्ड्स के विवेचन की सीमाओं का अध्ययन करना आवश्यक है—जिनके कारण वह मनीषी विचारक कविता के भविष्य को शून्य कहने के लिए विवश हुआ।

इस प्रश्न पर दो पहलुओं से विचार किया जा सकता है। एक तो यह कि लेखक अपने अनुभव को उसके पूर्ण रूप में पाठक तक कैसे पहुँचा सकता है ? इस पहलू में जो इस बात पर है कि अनुभव अपने पूर्ण रूप में पाठक तक पहुँचे। उसमें वही तीव्रता अक्षुण्ण रहे जिसका कि लेखक ने अनुभव किया है।

इस कथन पर तीन आपत्तियाँ स्पष्ट हैं :

(१) इस समस्या के रूप में ही परिवर्त्तन हो जाता है और समस्या भावप्रेषण या परबोध की न रहकर अनुभव के तीखेपन (तीव्रता) की अक्षुण्णता तथा सुरक्षा की हो जाती है।

(२) दूसरे यह प्रयास मूलतः ही कुछ गलत आधारों और कल्पनाओं पर स्थित है। क्योंकि यह प्रयास भावानुभूति और काव्यानुभूति में पाए जाने वाले अन्तर को मिटा देना चाहता है—ताकि उनकी तीव्रता के स्तरों में भेद न रहे। पर यह प्रयास कदापि सफल नहीं हो सकता, क्योंकि काव्यानुभूति और जीवनानुभूति को मिलाया नहीं जा सकता। व्यावहारिक रूप से देखें तो आज तक सारा साहित्य जो हमारे सम्मुख है उसमें ऐसा एक भी उदाहरण हमें नहीं मिल

सकता जिसके सम्बन्ध में हम कह सकें कि उस काव्य को पढ़कर इस तीव्रता का अनुभव हुआ है । उसकी तीव्रता कवि के अनुभव की तीव्रता के समान है। तुलसी के 'मानस' के शोक-प्रसंगों को पढ़कर अनेक पाठकों को रोता हुआ देखा है—जो इस तथ्य के साक्षी तो हैं ही कि तुलसी ने अनुभूति को बड़े ही पुष्ट माध्यम से अभिव्यक्त किया है। पर यह कैसे कहा जा सकता है कि तुलसी के अनुभव की तीव्रता भी इतनी ही होगी। इससे जुड़ा हुआ एक प्रश्न और है। हमारे साहित्य-शास्त्रियों ने भाव की स्थिति सहृदय के अन्तःकरण में मानी है। क्योंकि 'मानस' के एक ही प्रसंग को पढ़कर पाठकों में अपनी श्रेणी, स्थिति और संस्कार के अनुसार भिन्न स्तर की तीव्रता या भाव की चेतना का संचार होगा। फिर तुलसीदास ने किस पाठक के लिए अनुभव की तीव्रता को कितना प्रेषित किया यह हिसाब लगाना एक विचित्र मायाजाल में उलझना है। अपने व्यक्ति (लेखक) सापेक्ष दृष्टिकोण के कारण रिचार्ड्स पाठक को भुलाकर भूलते हैं। पाठक को भुलाकर तो प्रश्न उलझाया ही जा सकता है, क्योंकि जिस समस्या को उठाया गया है उसका पाठक से घनिष्ट सम्बन्ध है—परन्तु अपने विवेचन में उन्होंने पाठकों को कोई महत्त्व नहीं दिया। फलस्वरूप समस्या की पेचीदगी और बढ़ती गई और प्राप्त निर्णय उसके समाधान में पूर्णतया अक्षम हैं। स्थिरतावादी की तरह रिचार्डस् ने समस्या को स्थिर तथा अपरिवर्तनीय मान दिया है। इसका कारण उनमें सामाजिक व्यवस्था के परिवर्त्तन के प्रति जागरूकता का अभाव ही कहा जा सकता है, दूसरे शब्दों में वर्त्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति मोह कह सकते हैं। क्योंकि जिस समस्या पर वे विचार कर रहे हैं—वह पूँजीवादी व्यवस्था का ही अनिवार्य परिणाम है—जिसमें स्रष्टा कलाकार और जनता के बीच एक बड़ी खाई रहती है। सुश्री महादेवी वर्मा ने इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए हमारे कवियों और जनता के बीच के सम्बन्ध को बाजीगर और तमाशबीन का सम्बन्ध कहा है। डॉ० रामविलास शर्मा ने इस सत्य को इस प्रकार अंकित किया है—"पूंजीवादी व्यवस्था में शिक्षित किंवा दुशिक्षित कवि में और जनसाधारण में भारी अन्तर होता है। कवि अपने संकुचित अभिजात्यवर्ग में और संकुचित होता हुआ व्यंजना के नए और अपने तक सीमित प्रतीक ढूंढ़ लाता है। वह समझता है कि उसका अनुभव और व्यंजना उच्चकोटि की है।"

रिचार्डस् ने समस्या को सुलझाने की अपेक्षा उसे उलझाया अधिक है—फलतः विचित्र निष्कर्ष हमारे सामने हैं। इन्हीं में से एक सम्प्रा-

बना यह भी है कि आगे का युग कविता का युग नहीं है, कविता की सदा के लिए मृत्यु हो जाएगी। पूंजीवादी व्यवस्था को स्थिर रखने के मोह में जीवन की सुकुमारतम कल्प मृत्यु की यह उद्घोषणा दुखदायी तो है, पर आश्चर्य-जनक नहीं।

तुलनात्मक समीक्षा का ऐतिहासिक मार्गचिह्न :
'साहित्य दर्शन'

तुलनात्मक आलोचना की प्रणाली आज आधुनिक समीक्षा के व्यापक रूप की एक अंग मात्र रह गई—तथापि हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि उक्त प्रणाली में हमें आलोचना के सबसे प्रारम्भिक स्वरूप के दर्शन होते हैं—क्योंकि आलोचना का प्रादुर्भाव इसी प्रणाली से हुआ है। इसीलिये हमें उसमें भावयित्री प्रतिभा की प्रारम्भिक चेष्टाओं का कौशल दिखाई पड़ता है। आलोचना का यह प्रारम्भिक स्वरूप लक्ष्य तथा लक्षण दोनों ही प्रकार के साहित्य के सृजन के पश्चात् विकसित हुआ। उसके सम्मुख दोनों प्रकार का साहित्य था। वस्तु भी थी और उसके मूल्यांकन के लिये पैमाना या मानदण्ड भी था। अतः आलोचना का यह प्रारम्भिक रूप शास्त्रपरक रहा, लक्षण ग्रन्थों का अनुकरण करके आगे बढ़ा।

संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में इसके जो प्रारम्भिक उदाहरण मिलते हैं वे उसके प्राथमिक स्वरूप के परिचायक हैं :

> उपमा कालिदासस्य भारवि अर्थ गौरवम्।
> दण्डी पद लालित्यम् माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

उपर्युक्त श्लोक के स्रष्टा के समक्ष एक ओर दण्डी, माघ, भारवि और कालिदास का काव्य है वहीं दूसरी ओर उसके सम्मुख परम्परागत काव्यशास्त्र है। शास्त्र के माध्यम से वह उन सभी महाकवियों का मूल्यांकन करके अपना मत व्यक्त करता है। आलोचना का प्रारम्भिक स्वरूप सूक्तियों से शुरू होता है—यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है। इन सूक्तियों में पाई जाने वाली भावक की तुलनामूलक दृष्टि स्पष्ट है।

तुलना का अर्थ समानता या असमानता बतलाना या विशेष भावनाओं का निर्देश ही नहीं, वरन् महान् व्यक्तियों को एक स्थल पर लाकर उनका मूल्यांकन करना है। हम किसी कलाकार की ओर तभी आकृष्ट होते हैं जब कि हम उनके भीतर ऐसी विशेषताओं का दर्शन करते हैं जो प्रायः असामान्य हैं—या जिनकी सामान्यता काव्य, दर्शन या विज्ञान के रूप में किसी महान्

मानवी सिद्धान्त को जन्म देती है। इसलिये तुलनात्मक आलोचना की अन्य विशेषताओं के साथ यह स्मरण रखने की बात है कि वह भावक की संश्लेषण प्रधान दृष्टि की परिचायक है, जो विभिन्न रुचियों, प्रवृत्तियों और सिद्धांतों वाले मनीषियों के अगाध चिन्तन में से कुछ ऐसे सूत्र—कुछ ऐसी भावनाएँ खोजने के लिये प्रेरित है—जिनका समन्वित रूप मनुष्यता के मंगल का महान् सिद्धांत कहा जा सकता है।

साहित्यालोचन के क्षेत्र में फिलहाल तक यह पद्धति सिद्धांत और समीक्षा का संश्लेषण करके आगे बढ़ी है। इसी कारण केवल मात्र साहित्यिक नुक्ताचीनी—या कहिये कि स्थायी, संचारी भावों, अनुभावों, आलम्बन, उद्दीपन तथा नायिका-भेद की शास्त्रीय सरणियों का अनुसरण करने के कारण यह पद्धति वह कार्य नहीं कर सकी जो कि वह कर सकती थी। निश्चय ही इसका कारण उसका पुराना शास्त्रपरक स्वरूप ही है; और शास्त्र भी वे जिनमें सौंदर्यबोध के उन मानवी सिद्धांतों की कल्पना नहीं जो साहित्य में युग-युग तक प्रेरणा देने की शक्ति उत्पन्न करते हैं। इन्हीं मूलभूत कमज़ोरियों के कारण यह पद्धति विज्ञान के विश्लेषण-प्रधान युग में धीमी पड़ती जा रही है। 'साहित्य दर्शन' के प्रकाशन ने इस पद्धति में परिवर्त्तनों के साथ एक नया मोड़ प्रस्तुत कर दिया है।

श्रीमती शचीरानी गुर्टू द्वारा प्रणीत 'साहित्य-दर्शन' हिन्दी की तुलना-मूलक समीक्षा का प्रमुख ग्रंथ है, जो कि इस पद्धति की समीक्षा में ऐतिहासिक मार्गचिह्न की तरह है। हिन्दी में मिश्रबन्धुओं और पं० पद्मसिंह शर्मा के देव और बिहारी को लेकर होने वाले विवाद ने इस पद्धति को काफ़ी प्रोत्साहन दिया था। इसीलिये जब पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सूर तथा तुलसी की तुलना करके तुलसी को सूर से श्रेष्ठ सिद्ध किया तथा "सूर सूर तुलसी शशि" दोहे के लेखक को यमक का प्रमी कहा तो कई व्यक्ति सूर का पक्ष लेने के लिये उठ खड़े हुए—जिसके मूल में तुलनात्मक समीक्षा का हिन्दी आलोचना पर छाया हुआ व्यापक प्रभाव ही कार्य कर रहा था। यह तो हुई परम्परा की बात। क्या शचीरानी जी की यह कृति हिन्दी आलोचना की तुलनात्मक पद्धति की परम्परा में आती है? संक्षेप में इसका उत्तर है—नहीं। क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ के रचना-कौशल को देखकर यह बात भली-भाँति प्रकट हो जाती है कि 'साहित्य दर्शन' स्वाभाविक रूप से इस महती परम्परा का विकास होते हुये भी इतने मौलिक, नवीन तथा विकसित रूप में है कि यकायक उससे जुड़ा हुआ प्रतीत

नहीं होता। इसके साथ ही प्रस्तुत ग्रंथ की संयोजना में लेखिका ने जिस चातुर्य से कार्य किया है वह सहज ही उसे एक नवीन धरातल पर ले जाता है।

प्रस्तुत ग्रंथ में तुलनात्मक समीक्षा कई क़दम आगे बढ़ी—तथा विकसित हुई प्रतीत होती है। द्विवेदी-युग में उसका शास्त्र ही मात्र आधार था, अतः उसका तद्युगीन स्वरूप अत्यन्त सीमित तथा एकांगी था। प्रस्तुत रचना में उक्त पद्धति का जो स्वरूप प्रस्तुत हुआ है उसमें तथा इस पूर्व स्वरूप में परस्पर सम्बन्ध-सूत्र जोड़ सकना जरा टेढ़ी खीर ही है जो असंदिग्ध रूप से इस बात को सिद्ध करती है कि 'साहित्य दर्शन' के द्वारा लेखिका ने हिन्दी की तुलनात्मक आलोचना को अपनी अनुपमेय देन के द्वारा एक विशिष्ट भूमि पर खड़ा कर दिया है, जिसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखिका ने तुलनात्मक समीक्षा की पुरानी शास्त्रीय पद्धति का परित्याग कर उसके स्थान पर व्याख्यात्मक आलोचना की पद्धति को अपनाया है। इस पद्धति से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि हम लेखक के साहित्य में प्रतिबिम्बित प्रवृत्तियों के द्वारा उसके मानस के अध्ययन में सक्षम हो सके। यह क्रम मनोविश्लेषणात्मक आलोचना से ठीक उलटा है। दूसरे लेखिका की दृष्टि सदैव ही प्रवृत्तियों के विश्लेषण की ओर रही है। प्रवृत्तियों के संश्लेषण का अनीप्सित सूत्र पिरोने की प्रवृत्ति का परिहार कर उसने अपने प्रयास को और ठोस स्वरूप प्रदान किया है। इस प्रकार 'साहित्य दर्शन' के द्वारा हिन्दी की तुलनात्मक समीक्षा को एक नवीन एवं मौलिक दृष्टि प्राप्त हुई है।

'साहित्य दर्शन' की तुलनात्मक पद्धति में जैसा कि पहिले कहा गया है लेखिका ने विश्लेषण-प्रधान व्याख्या की प्रणाली को अपनाया है—परन्तु उसकी इति यहीं तक नहीं समझना चाहिए। क्योंकि यह ग्रंथ किन्हीं एक या दो रचनाकारों का तुलनात्मक एवम् प्रवृत्ति-निरूपक विवेचन नहीं—वरन् समस्त विश्व-साहित्य की महान विधायक सृष्टि को एक मनीषि-दृष्टि से देखने का उपक्रम है, जो अपने मूल में मानवता की उदात्त भावनाओं को लिए हुए हैं। विश्व-साहित्य का मूल्यांकन करते समय यह मनीषि-दृष्टि विश्व-मानव के उस मांगलिक स्वरूप का उद्घाटन करती चली है—जो मनुष्य के हृदय में देश-काल की संकुचित सीमाओं के थोथे संस्कारों के पार एक स्वस्थ जीवन की भावना भर देते हैं। देश और काल की सीमाओं के पार मनुष्यता एक महान् सत्य है। इसी महान् सत्य की अखंड चेतना को ही विश्व के महामान्य कलाकारों ने वाणी दी है। मानवता की शक्तिमयी

मांगलिकता का यह वरदान एक दिन ऋचाओं का संगीत बन गया था, कभी वाल्मीकि, व्यास और होमर की वाणी में फूट पड़ा था और कभी इस दिव्य संदेश को तुलसी ने शब्दों में बाँधा था। मानव की मंगलेच्छा का यह महान् संकल्प प्रत्येक युग और काल की महान प्रतिभा की वाणी में फूटा है। इसी मंगलेच्छा की श्रेय-प्रेयमयी भावना का निरूपण ही लेखिका को अभीष्ट प्रतीत होता है। इसी पुण्य संकल्प के कारण ग्रंथ के सारे निबन्धों में एक अन्तर्सूत्र व्याप्त है – सारा विश्व-साहित्य इसी एक योगसूत्र में अनुस्यूत प्रतीत होता है।

लेखिका ने बड़ी ही कलात्मकता के साथ व्यापक विश्व-साहित्य पर कुछ रेखाएँ खींची हैं। इन रेखाओं का कौशल यह है कि वे पृथक् रूप से खींची जाने पर भी परस्पर जुड़ी हुई हैं। और—सब मिल कर एक चित्र बनाती है—जिसमें श्रद्धा की दीप्ति है। कहना न होगा कि यह चित्र विश्व मानवता का है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ विश्व को मानवता का महान संदेश देने वाले, काव्य के उषःकाल के गायक महाकवि वाल्मीकि, वेदव्यास, होमर, वर्जिल और दांते से होता है। प्रारम्भ में महाकाव्य के भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। रामायण, महाभारत, इलियड, इनियड और दि डिवाइन कॉमेडी विश्व के इन सर्वाधिक प्राचीन, विशद, वैविध्यपूर्ण, विश्व ज्ञान के कोष तथा समृद्ध महाकाव्यों के वर्ण्य-विषय का परिचय कराते हुए लेखिका ने उनके रचयिताओं की प्रतिभा, चरित्र-चित्रण की शैली तथा कलात्मक धरातल पर प्रकाश डालते हुए कहा है "ये महाकाव्य इतने विशद और वैविध्यपूर्ण हैं कि इनमें लोक-ज्ञान का अनन्त कोष भरा पड़ा है।"

कालिदास को विगत एक शताब्दी से भारतवर्ष का शेक्सपियर कहा जाता रहा है। पश्चिम के मनीषियों ने कालिदास के साहित्य में शेक्सपियर की रचनाओं के समान ही एक अद्‌भुत कलाकार के विलक्षण शिल्प की छाप देखी थी। परन्तु दोनों कलाकारों के शिल्प का सम्यक् तुलनात्मक अध्ययन फिलहाल तक प्रस्तुत नहीं हुआ था। लेखिका ने परम्परित रूप से दुहराये जाने वाले तथा जन-मानस पर संस्कार रूप में अवस्थित इस भाव को पकड़ा और उसे मूर्त्त रूप दिया। दोनों महाकवियों की तुलना करते हुए लेखिका ने उनके सूक्ष्म निरीक्षण का इस प्रकार विवेचन किया है : "इन दोनों महाकवियों को मनोवैज्ञानिक अवस्था का कितना सूक्ष्म और गहरा अध्ययन था—वह उनकी रचनाओं को पढ़ने से तत्क्षण ज्ञात हो जाता है। मानव स्वभाव के

पारखी होने के साथ ही साथ वे जीवन की अनेकरूपता के भी सूक्ष्म द्रष्टा थे और असुन्दर में भी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण सौन्दर्य तथा सौकुमार्य की कल्पना करते थे।"

कालिदास और शेक्सपियर दोनों ही महाकवि प्रकृति के उपासक थे। मानव-प्रकृति के ज्ञाता और व्याख्याता होने के साथ ही उनकी प्रतिभा में प्रकृति और मानव में सामञ्जस्य और साहचर्य की भावना उत्पन्न करने की विलक्षण शक्ति वर्त्तमान थी। शकुंतला के वियोग में सारी वन्य प्रकृति दुखी और संतप्त प्रतीत होती है। पुरुरवा को प्रकृति में अपने जीवन की छाया दिखाई देती है। इसी प्रकार शेक्सपियर के नाटकों में भी "मानव-मन के सुख, दुःख, हर्ष, विषाद, प्रेम, घृणा, क्रोध, ईर्षा, क्षोभ आदि मनोविकारों का कहीं कहीं प्राकृतिक उपादानों पर बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रभाव व्यक्त किया गया है।" वृद्ध लीयर के हृदय में उठने वाले तूफ़ान का वाह्य जगत के तूफ़ान से अद्भुत सादृश्य है। कालिदास और शेक्सपियर के नाटकों की ऐतिहासिक उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए बतलाया है कि दोनों ने ही "ऐतिहासिक कथावस्तु को अपेक्षाकृत उत्कृष्ट एवं संग्रहणीय बना दिया है।"

'तुलसी और मिल्टन' की तुलना से प्रस्तुत संग्रह के निबंधों में एक विशेष प्रकार का तेज तथा शैली में निखार आ जाता है। क्योंकि पहिले के दोनों निबन्ध प्रवृत्तियों की तुलना की अपेक्षा परिचयात्मक ही अधिक थे। प्रारम्भ में 'रामचरितमानस' और 'पैराडाइज़ लॉस्ट' के विषय-साम्य की संक्षिप्त मीमांसा प्रस्तुत की गई। उसके बाद दोनों ही महाग्रन्थों के आध्यात्म की विवेचना करते हुए तुलसी और मिल्टन के जीव सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये गये हैं—जो अद्वैत की भावना से प्रभावित हैं। तुलसी के साहित्य में इस भावना से पृथक् तथा भिन्न भाव भी प्राप्त होते हैं जो विशिष्टाद्वैत की कोटि में आते हैं—फिर यह समीक्षक की स्वेच्छा पर निर्भर है जो चाहे ग्रहण करे।

'टैगोर और टॉलस्टॉय' शीर्षक निबन्ध में दोनों रचनाकारों के बचपन, शृंगार-भावना, जीवन के प्रति नैराश्यमूलक दृष्टिकोण तथा भ्रमण-प्रवृत्ति की सम्यक् विवेचना की गई है। दोनों महाकवियों की आत्मा बचपन में कोई बन्धन न चाहती थी। 'अन्ना केरिनिना' के सम्बन्ध में लेखिका ने लिखा है:

" 'अन्ना केरिनिना' में नारी जीवन का सूक्ष्म, अनोखा और चकाचौंध कर देने वाला चित्रण है।"

महामानव गांधी और रोम्याँ रोलाँ दोनों ही आत्मदर्शी, सहिष्णु और कर्मनिष्ठ योगी थे जिन्होंने सत्य के विराट रूप का दर्शन आँखों से नहीं हृदय से किया था ।"

प्रतीत होता है इन कुछ गिने-चुने शब्दों में ही लेखिका ने दो कर्मयोगियों को साकार खड़ा कर दिया है । केवल मात्र एक लाइन से बनाए गये चित्र में जिस प्रकार व्यक्ति का व्यक्तित्व बँधकर झाँकने लगता है वैसे ही इन कुछ शब्दों में गांधी और रोलाँ झाँकते से प्रतीत होते हैं। दोनों ही में पूर्व और पश्चिम के दर्शन तथा जीवन-प्रणाली में सामञ्जस्य स्थापित करने की उत्कट प्रेरणा वर्त्तमान् थी—दोनों में निकट का सम्बन्ध था । लेखिका के अनुसार 'दोनों ही जीवन और सौन्दर्य के अप्रतिम द्रष्टा थे ।'

'प्रेमचन्द और गोर्की', 'गेटे और प्रसाद', 'निराला और ब्राऊनिंग,' 'मैथिलीशरण और रॉबर्ट बर्न्स' आदि निबन्ध संगतिमूलक तुलना के अच्छे उदाहरण हैं । इनमें कहीं परिस्थिति और परम्परा पर जोर दिया गया है और कहीं वैयक्तिक प्रवृत्तियों पर । जहाँ परिस्थिति और परम्परा पर जोर दिया गया है या कहिए कि कलाकार को अपने युग और देश की साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थिति के बीच रखकर देखा गया है वहाँ इस प्रयास में उदात्तता और गम्भीरता का समावेश हो गया है—जैसे 'प्रेमचन्द और गोर्की' शीर्षक निबन्ध में । वैसे तो सभी निबन्धों में यह क्रम न्यूनाधिक रूप में दिखाई पड़ता है और प्रायः दोनों ही प्रकार की शैली का मिला-जुला स्वरूप ही इसकी शैली में दिखाई पड़ता है, तथापि एक सधी हुई या कहें कि ढली हुई शैली सभी निबन्धों में प्राप्त नहीं होती । इसका कारण बहुत कुछ विषय का वैविध्य ही है । प्रेमचन्द और गोर्की जो कि जनता और समाज के लेखक रहे उनकी सामाजिक भूमिका तो लेखिका ने सरलता से स्पष्ट करदी, किन्तु जो लेखक प्रायः व्यक्तिवादी हैं उनके साहित्य की चेतना के सामाजिक पक्ष का उद्घाटन करने का प्रयास नहीं किया गया है—उदाहरणार्थ जैनेन्द्र, महादेवी, अज्ञेय, इलियट, मेरीडिथ, क्रिस्टना रोजेटी आदि ।

प्रसाद के 'आँसू' की तुलना गेटे के 'वेर्टर' से की गई है । पंत की 'ग्रंथि' की 'एपिपस्किडियॉन' तथा 'पल्लव' की 'प्रोमोथियस' से तुलना की गई है । 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्णधूलि' पर लिखते हुए लेखिका ने जो कुछ लिखा है उससे इस ग्रन्थ की गुरुता पीछे हटती नजर आती है ।

निराला और ब्राउनिंग की तुलना बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। इस में लेखिका का स्पृहणीय प्रयास द्रष्टव्य है। अपने जीवन और साहित्य में इतने समान व्यक्तित्व बहुत ही विरल मात्रा में दिखाई देंगे। वस्तुतः निराला और ब्राउनिंग का साहित्य उनके जीवन से पृथक् नहीं, वरन् उसी के आसपास केन्द्रित है। इस तुलना की यह विशेषता है कि वह केवल मात्र रचनाकारों के कृतित्व में पाई जाने वाली प्रवृत्तियों को आधार बनाकर नहीं चली है वरन् उसमें उन प्रेरक शक्तियों को भी उद्‌घाटित किया गया है जो इन प्रवृत्तियों के मूल में प्रतिष्ठित हैं। जो सदैव इन रचनाकारों की मानस प्रक्रिया को प्रभावित करती रही हैं, साहित्य और जीवन को समानान्तर रख कर देखने से दोनों महाकवियों की सम्पूर्ण विशेषताएँ—उनके जीवन का नाटकीय तत्त्व तथा नायकोचित व्यक्तित्व एक साथ सम्मुख खड़े हो जाते हैं।

रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू ऑनर्ल्ड की तुलना में जहाँ उनकी प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर लेखिका ने बतलाया कि वे दोनों ही व्यक्ति अपने वर्त्तमान से असन्तुष्ट थे वहीं उनके साहित्य-सिद्धान्तों तथा कृतित्त्व की तुलना भी समीचीन रूप से की गई है। महादेवी और क्रिस्टिना रोजेटी की तुलना में लेखिका ने बड़ी ही तन्मयता से उनके भाव-जगत की विशेषताओं को एक-एक कर प्रस्तुत किया है। दोनों के साहित्य का विश्लेषण इन शब्दों में उनकी विशेषताओं को प्रकट करेगा।

"क्रिस्टिना की कृतियों में कुमारीत्व की अमल-धवल पावनता, भोली सरलता और यत्किंचित अल्हड़पन भी है, जिसमें विराग की धूमिल अरुणिमा यत्र-तत्र बिखरी हुई है। महादेवी के काव्य में नारीत्व का क्रन्दन, असफल पत्नीत्व की खीज और द्विविधाग्रस्त अभावजन्य उपराम है, जिसमें नारी-सुलभ समर्पण-भावना और जीवन की गुत्थी न सुलझाने के कारण दुर्भेद्य सघनता व्याप्त हो गई है।"

यशपाल और चेखव की तुलना उनके साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि तथा सिद्धांतवादिता को आधार बनाकर की गई है।

अज्ञेय की तुलना अंग्रेजी में रूढ़िवादी कवि आलोचक टी. एस. इलियट से की गई। 'साहित्य दर्शन' में इस तुलना को देखकर एक बार लोग ठहाका मार कर हँसे होंगे। कारण यह कि अज्ञेय की वैचारिक वैयक्तिकता इलियट के सम्मुख संदिग्ध ही है। उन्हें तो इलियट की कार्बन कॉपी कहना चाहिये। असल और नकल, मूल और छाया की तुलना से तुलना की संगति

पीछे ही हटती है—फिर अज्ञेय के प्रयासों को इतना बढ़ा-चढ़ा कर आँकना भी वास्तविकता के विपरीत है, किसी भी व्यक्ति को अनपेक्षित महत्त्व देना है। इस तुलना में एक स्थान पर लेखिका ने लिखा है :

"उन्होंने (अज्ञेय—ले०) त्रिशंकु में आलोचना के खरे प्रतिमानों के सहारे अनेक सामयिक कवियों की विशेषताओं का आनुपातिक विश्लेषण किया है—जिसमें अन्तर्दर्शी एवं स्थितप्रज्ञ बुद्धि की पारदर्शिता निहित हैं।" इस सम्बन्ध में यह निवेदन है कि हमने जो 'त्रिशंकु' की प्रति देखी है उसमें केवल महादेवी, सियारामशरण गुप्त तथा प्रसाद ही आलोचना के विषय रहे हैं। अनेक सामयिक कवियों की विशेषताओं का आनुपातिक विश्लेषण हमें दिखाई नहीं दिया। अज्ञेय के आलोचना के खरे प्रतिमानों ? पर तो कहा ही क्या जाये (देखिये—"आलोचक अज्ञेय") पर हमें तो इस 'त्रिशंकु' में किसी अंतर्दर्शी और स्थितप्रज्ञ के दर्शन नहीं हुए वरन् हीनता से प्रताड़ित एक ऐसे आँतंकवादी के दर्शन हुए जो अपने नामानुसार अधर में लटक रहा है। पता नहीं शची जी ने त्रिशंकु का कौन सा संस्करण देखा है ? मैथिलीशरण गुप्त और रॉबर्ट वर्न्स तथा जैनेन्द्र और मेरीडिथ दोनों ही निबन्ध सुन्दर बन पड़े हैं। शरदचन्द्र और डॉस्टॉवस्की की तुलना में दोनों ही मनस्वी स्रष्टाओं के कृतित्व की विस्तृत समीक्षा, और विवेचन कर उनकी साहित्यिक विशेषताओं एवं रचना-कौशल का उद्घाटन किया गया है।

कुछ ऐसे निबन्ध भी पुस्तक में संकलित हैं जो इन निबन्धों की परम्परा में नहीं आते। जैसे "उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द", "चीन का राष्ट्रकवि लिपो", "कलाकार बीटोफ़ेन", "वर्ड्सवर्थ और प्रकृति" आदि, क्योंकि पुस्तक के अधिकांश निबन्ध तुलनात्मक प्रणाली के हैं।

'रवीन्द्र, पंत और कीट्स का सौन्दर्यवाद' में तीनों कवियों के प्राणों में स्पन्दनशील सौन्दर्य-चेतना को प्रस्तुत किया गया है। प्रसाद और हार्डी के नियतिवाद का विश्लेषण करने के उपरान्त निम्न सूत्र में दोनों की जीवन-गति दिखलाई गई है। "प्रसाद और हार्डी दोनों ही नियति के दाव पर मनुष्यता को सदैव कसते रहे हैं।.........वे अंधकार में टटोलते हुये की भाँति अज्ञात प्रकाश-छाया की छटपटाहट एवं भाग्यवाद की कुहेलिका में यत्र-तत्र अपने आपको लय करते रहे हैं।'

प्रस्तुत ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता उसका विराट् 'कैनवास' है। समग्र विश्व-साहित्य परस्पर निकट लाकर मूल्यांकन करने का यह प्रयास निश्चय ही

अभिनन्दनीय है। हिन्दी साहित्य के लिये यह क्रम दुहरे महत्त्व का है। एक तो समग्र हिन्दी साहित्य को विश्व की अन्य भाषाओं में विकसित और समृद्ध विश्व साहित्य की पृष्ठभूमि में रखकर देखने का प्राथमिक प्रयास लेखिका ने किया है और उसके द्वारा हमारे साहित्य को विश्व-साहित्य से सम्बद्ध करने का सफल उपक्रम किया है, ताकि हम विश्व के समृद्ध साहित्य को निकट से देख सकें और उसकी पृष्ठभूमि में अपनी स्थिति का मूल्यांकन कर सकें तथा साहित्य की उन विशेषताओं का अध्ययन कर सकें जिन्होंने किसी भी कलाकार को महान् बनाया है। दूसरे इसमें हिन्दी साहित्य को अन्तर्प्रान्तीय भाषाओं के कृती साहित्यकारों के सम्पर्क में रखकर देखा गया है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद के महत्त्व को देखते हुए यह प्रयास निश्चय ही ऐतिहासिक महत्त्व का होगा। इन दोनों ही दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ का ऐतिहासिक एवं दिशा-निर्देशक महत्त्व असंदिग्ध है। विश्व-साहित्य के अध्ययन के द्वारा हमें विविध देशों और जातियों की संस्कृति को समझने और निकट तक जाने का अवसर मिलता है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान का यह क्रम हिन्दी में अनोखा है। सांस्कृतिक अंतरावलम्बन में भी अन्तर्प्रान्तीय संस्कृतियों के सामीप्य की बहुत आवश्यकता है। वैसे लेखिका ने रवीन्द्र, शरद, गाँधी, बंकिम, मुंशी, आप्टे, राखालदास आदि को ले लिया है तथापि कई महान् नक्षत्र छूट गये हैं। उर्दू के महान् साहित्यकारों का समावेश न होना भी कुछ खटकता है।

प्रस्तुत ग्रंथ अपने विषय का अनूठा—तथा रचना-कौशल की दृष्टि से अनुपम है, जिसमें लेखिका का अपार अध्यवसाय तथा स्वाध्याय संगठित है। समग्र विश्व-साहित्य की व्याख्या के इस प्रयास की तुलना करने का कार्य हम लेखिका की तुलनाप्रियता पर छोड़ देते हैं।

आलोचक अज्ञेय

हिन्दी समीक्षा का क्षेत्र आज विशाल से विशालतर होता जा रहा है। उसका वर्त्तमान रूप आलोचना के विविध दृष्टिकोणों से मिलजुल कर बना है। इस काल में सबसे उभर कर आने वाला दृष्टिकोण मार्क्सवादी आलोचना का है। आज की हिन्दी समीक्षा का गुरुत्व के साथ पूर्वग्रहों से मुक्त होकर यदि विश्लेषण किया जाए तो ज्ञात होगा कि यही दृष्टिकोण साहित्य का वास्तविक मूल्यांकन करते हुए गति निर्देश कर रहा है। यह सही है कि इसके लिये उसके आदर्श पश्चिम के कला समीक्षक रहे हैं। इनमें रेल्फ फॉक्स तथा क्रिस्टोफ़र कॉडवेल प्रमुख हैं। पश्चिम के और दूसरे कला-समीक्षकों में, जिनका प्रभाव हिन्दी आलोचना पर पड़ा, टी.एस. इलियट प्रमुख हैं। स्वयं अज्ञेय ने इलियटीय समीक्षा का आयात हिन्दी में सन् १९४५ से माना है (देखिये हंस, दिसम्बर १९४७ पृष्ठ २३६)। स्वयं अज्ञेय के अतिरिक्त डॉ० देवराज भी टी.एस. इलियट के समीक्षा-सिद्धांतों से एक बड़ी सीमा तक प्रभावित हैं।

इलियट अंग्रेज़ी के प्रमुख कवि तथा आलोचक हैं। अपने ढंग की एक नई काव्य-प्रणाली को जन्म देकर उसकी स्थापना के लिये उन्होंने आलोचना के कुछ नवीन सिद्धांतों को जन्म दिया है। कवि के लिये उन्होंने परम्परा से सम्बन्ध रखने पर बहुत ज़ोर दिया। उनका मत है कि कवि को मात्र युगीन जीवन की अभिव्यक्ति न कर इतिहास और वर्त्तमान की समग्र चेतना की अभिव्यक्ति का प्रयास करना चाहिये। अपने अतीत की रूढ़ियाँ, उसकी मृत और जीवित मान्यताओं का ज्ञान कवि को होना आवश्यक है। क्योंकि यह ऐतिहासिक ज्ञान जो कि एक साथ ही बीता हुआ और वर्त्तमान है लेखक को ऐतिहासिक लेखक बना देता है।[1] कविता व्यक्तित्त्व का अभिव्यंजन नहीं वरन् व्यक्तित्त्व से पलायन है।[2] कलाकार की सम्पूर्णता का आधार उसके स्रष्टा और भोक्ता मन का पृथकत्व है।[3] कलाकार की सृष्टि और उसके व्यक्तित्त्व में अधिकाधिक असामञ्जस्य ही श्रेष्ठ कला को जन्म देता है। कला-सृजन की प्रक्रिया में कलाकार का मन एक माध्यम का काम करता है। इस प्रकार इलियट कला के क्षेत्र में अपने निर्व्यक्तीकरण के सिद्धांत की स्थापना करते हैं और कला में कलाकार के व्यक्तित्त्व की तटस्थता को श्रेष्ठ कला का जनक

मानते हैं। इस तटस्थता को प्राप्त करने का साधन यही है कि कलाकार इतिहास की चेतना के सम्मुख अपने व्यक्तित्त्व का उत्सर्ग करके समूह की चेतना में स्वयं को डुबो दे। या फिर परम्परा से प्राप्त आदर्शों की भावना में स्वयं की चेतना को पर्यवसित करदे। कला-सृजन की प्रक्रिया की तुलना इलियट ने एक रासायनिक क्रिया से की है। यदि ऑक्सीजन और सल्फ़र डायोक्साइड से युक्त किसी कक्ष म प्लेटीनम का तन्तु डाल दिया जावे तो उपरोक्त गैसें सल्फ़र ऐसिड के रूप में परिवर्तित हो जायेंगी और प्लेटीनम के तन्तु में कुछ परिवर्त्तन नहीं होगा। इसी प्रकार (प्लेटीनम के तन्तु की तरह) कलाकार का व्यक्तित्त्व विभिन्न अनुभूतियों को कला के रूप में परिवर्तित कर देता है और स्वयं तटस्थ रहता है।

अपने इन्हीं सिद्धांतों को लेकर इलियट ने अंग्रेजी साहित्य में जिस काव्य-धारा का प्रवर्त्तन किया वह अपनी दुरूहता एवं अस्पष्टता के लिये अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी है। इसका कारण उनके काव्य सम्बन्धी अजीबोगरीब सिद्धांत हैं, जिनके अनुसार कविता में अर्थ होना आवश्यक वस्तु नहीं है। वह कविता की अभिव्यक्तिगत तीव्रता एवं आवेग को मन्द कर देता है। कविता तो मूर्त्त संयोजकों (objective co-relatives) का एक समूह मात्र हैं।

1. This historical sense, which is a sense of the timeless and the temporal together, is what makes a writer historical.
2. Poetry is not the expression of personality, but an escape from personality.
3. The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates.

इलियट के काव्य सिद्धान्तों का यह प्रारम्भिक परिचय इसलिए आवश्यक हो गया क्योंकि अज्ञेय के विचार एक बड़ी सीमा तक इन्हीं विचारों पर आश्रित हैं, और हिन्दी में अज्ञेय वही कर रहे हैं जो अंग्रेजी में टी. एस. इलियट.।

एक उपन्यासकार के रूप में हिन्दी संसार अज्ञेय से अच्छी तरह से परिचित हैं। उपन्यासों के अतिरिक्त कविता, कहानी, निबन्ध, आलोचना

आदि साहित्य के अनेक माध्यम उन्होंने चुने हैं। इलियट की शब्दावली में उन्होंने साहित्य के अनेक अंगों के लिए अपने व्यक्तित्व को माध्यम बनाया है। उन्हीं के शब्दों में कहें तो उन्होंने साहित्य के अनेक माध्यमों से अपनी असामाजिक अनुपयोगिता को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा आलोचना के क्षेत्र में जो कार्य हुआ है वह परिणाम में बहुत ही कम है। उसके महत्त्व का कारण उसकी सैद्धान्तिक नवीनता है। फिर यह नवीनता चाहे अंग्रेजी की उतरन ही क्यों न हो, पर अज्ञेय तो 'मॉडर्न' की धमकी से हिन्दी पाठक पर आतंक जमा ही लेते हैं।'

अधिकांश निबन्ध 'त्रिशंकु' में संगृहीत हैं। भूमिका मे लेखक ने निबन्धों की सैद्धान्तिक नवीनता का दावा किया है और संकेत किया है कि अपने इन्हीं सिद्धान्तों के द्वारा वे हिन्दी आलोचना में मूल्यांकन का प्रयत्न करेंगे। पर यह मूल्यांकन रेडियो प्रसारित होने वाले पुस्तक-परिचय (Review) तक ही सीमित है।

अज्ञेय के निबन्धों पर विचार करने के पहले उनके सांस्कृतिक दृष्टि-कोण को समझना आवश्यक है। अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण में वे अत्यन्त उलझे हुए हैं और यह उलझन ऐसी है जो उन्हें सामन्तवाद के सिवा और कहीं शरण नहीं देखने देती। 'संस्कृति और परिस्थिति' शीर्षक में उन्होंने सजीव संस्कृति के मरने की बात कही है। यंत्रों द्वारा उत्पन्न परिस्थिति का चित्रण कर लेखक ने बतलाया है कि यंत्रों के कारण जीवन और साहित्य घटिया हो रहा है।

जिस संस्कृति के मरने की बात अज्ञेय ने कही है वह मध्ययुग की म्रियमाण सामन्ती संस्कृति है। उस संस्कृति की विशेषता जीवन-क्रिया की व्यवस्था में बतलाई गई है, जिसका कारण मध्ययुग में उत्पादन की वैयक्तिक प्रणाली का अपनी चरम स्थिति में पहुँचना है। पर लेखक ने सामन्तवाद के हीन पहलू को छुपा लिया है। उस संस्कृति के साथ अनिवार्य रूप से बँधे सामन्ती शोषण, बर्बरता, निरंकुशता और तानाशाही को नजरन्दाज किया है।

यह सही है कि आधुनिक विज्ञान ने हमारे सभी संस्कारों को एक साथ झकझोर डाला है। हमारे जीवन में अस्तव्यस्तता एक बड़े परिमाण में है। प्राचीन जीवन-मूल्यों के प्रति होने वाली अनास्था और उठने वाले विश्वास ने जीवन की क्रिया को और भी जटिल तथा गूढ़ बना दिया है। तथापि इस समस्या का समाधान पीछे लौटना कदापि नहीं है,

न लौटा ही जा सकता है। दोष भर गिना देने से मशीन को आज के जीवन से हटाया भी नहीं जा सकता। मशीन को संस्कृति का घातक समझना भी पूर्णतया असंगत है। यदि मशीन को संस्कृति का घातक माना जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि सोवियत में आज संस्कृति जीवित नहीं। किन्तु सोवियत में होने वाले उच्चतर सांस्कृतिक निर्माण को स्वीकार न करना एक हल्की साहसिकता मात्र होगी, सचाई नहीं। इसी प्रकार मशीन युग ने साहित्य को घटिया बना दिया है कथन भी भ्रामक है। फिलहाल हमारे देश में यंत्रों का इतना विकास नहीं हुआ है कि देख सकें कि यन्त्रों का साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ता है। पर जहाँ यंत्रों का काफ़ी विकास हो गया है उन देशों में भी तो साहित्य रचा जा रहा है। रूस, अमेरिका, इंगलैण्ड सभी दूर हैं। क्या वहाँ घटिया साहित्य लिखा जा रहा है? जहाँ के लेखकों की रचनाओं का भावानुवाद करके अज्ञेय हिन्दी में आतंक पैदा कर रहे हैं। मेरा आशय डी. एच. लॉरेन्स और टी. एस. इलियट से है।

साहित्य घटिया हो रहा है इस सम्बन्ध में अज्ञेय का मत है :

ऊपर कहा गया है कि आधुनिक जीवन दो क्रियाओं में बँट जाता है, श्रम, जो अन्ततः यांत्रिक और तोषशून्य है, तथा अवकाश जो अन्ततः श्रम की अवस्था की क्षतिपूर्त्ति है, स्थगित जीवन की थकान से भागना या कम से कम मनोरंजन है। अतः आधुनिक जीवन में संस्कृति के और उसके प्रमुख अंग बल्कि केन्द्र साहित्य के लिए कोई स्थान है तो दूसरी अवस्था में ही है। आज साहित्य का यही मुख्य उपयोग है और मेरी समझ में यही उसके लिए सबसे बड़ा खतरा।[1]

किन्तु प्रश्न उठता है यह खतरा आधुनिक साहित्य के लिए ही क्यों? वह तो आदिम युग से लेकर आज तक के साहित्य के पीछे लगा हुआ है। आज तक सभी साहित्य का उपयोग अवकाश के समय हुआ है। क्या अज्ञेय द्वारा प्रशंसित केशव का साहित्य इन्द्रजीतसिंह के मनोरंजन और अवकाश के समय उपयोग का साहित्य नहीं है? पिछले ३०० वर्षों से तुलसी के रामचरित-मानस का भी भारत की कोटि-कोटि ग्रामीण जनता रात्रि को अवकाश के समय ही तो उपयोग करती है। कोई साहित्य अवकाश के समय पढ़ा जाने से घटिया नहीं हो जाता। यदि अज्ञेय इस तथ्य में विश्वास रखते हैं तो क्या सम्भव है कि जिस प्राचीन साहित्य को वे श्रेष्ठ कलाकृति समझते हों, उसे

१—त्रिशंकु, पृष्ठ १७

यदि अवकाश के समय पढ़ा जाए तो वह घटिया हो जावेगी ? वस्तुतः अवकाश और साहित्य के घटिया-बढ़िया होने का कोई सम्बन्ध नहीं है। बल्कि साहित्य का घटिया बढ़िया होना इस पर निर्भर है कि वह साहित्य क्या-मात्र अवकाश का समय बिताने के लिए, मनोरंजन के लिए लिखा गया है या वह अपने में कुछ शक्ति रखता है जो पाठक को बल, शक्ति और प्रेरणा दे सके। निश्चय ही दोनों ही प्रकार का, याने मात्र अवकाश का समय बिताने का, मनोरंजन करने के लिए, श्रम की क्षतिपूर्त्ति का साहित्य या—प्रेरणादायक शक्ति और स्फूर्ति देने वाला साहित्य : सभी युगों में लिखा गया है। मध्ययुग में केशव, बिहारी, मतिराम और पद्माकर ने जहाँ पहिली कोटि का साहित्य लिखा वहीं कबीर, तुलसी, और भूषण ने दूसरी कोटि का। आधुनिक युग में जहाँ अज्ञेय, इलाचन्द जोशी और कुशवाहाकान्त पहिली कोटि का साहित्य लिख रहे हैं, कृष्णचन्द्र, यशपाल और राङ्गेय राघव दूसरी कोटि का ।

साहित्य के घटियापन की मिसाल जो अज्ञेय ने दी वह और भी हास्यास्पद है। उनका मत है कि साहित्य के भीतर से चमत्कार का गुण निकलता जा रहा है। अतः साहित्य घटिया हो रहा है।

जहाँ तक साहित्य और चमत्कार का प्रश्न है वह साहित्य का एक अंग माना जा सकता है—वह भी अतिरिक्त धर्म के रूप में ही। उसके अभाव में साहित्य घटिया हो रहा है यह नहीं माना जा सकता। चमत्कारित्व और काव्यत्व को हमारी साहित्यिक परम्परा में कभी भी पर्याय नहीं माना गया। हाँ, केशव प्रभृति कुछ दरबारी कवियों ने अवश्य ही इस प्रकार की निरी कृत्रिम चमत्कारिता से प्रकृत काव्य की हत्या कर दी थी। सामन्तयुग का साहित्य वस्तुतः आश्रयदाता सामन्तों को चमत्कृत करने का साहित्य है। मेरा आशय उस साहित्य से है जो सामन्त युग के पतन काल में राज्याश्रित कवियों द्वारा लिखा गया। साहित्य में कुछ प्रकृत चमत्कार तो रहता ही है, किन्तु वह उसकी मार्मिकता, और अनुभूति की सचाई के कारण। अतिरिक्त चमत्कारिता, चौंका देने की प्रवृति के जन्म स्थान सामन्तों के दरबार रहे हैं। यह साहित्य की एक पतनोन्मुख दरबारी विशेषता मात्र है। जिसका विकसित रूप हमें समस्या-पूर्त्ति में मिलता है। आयासिक चमत्कारिता को आधार मानकर साहित्य के घटिया या बढ़िया होने का फ़तवा देना कोई संगति नहीं

रखता। साहित्य अपने इस दरबारी गुण को, अतिरिक्त, कृत्रिम लादी हुई और प्रायासिक चमत्कारिता को छोड़ कर प्रकृत भावभूमि पर आ रहा है। अब जनता का साहित्य बन रहा है और वह जनता को केवल चौंका देना चाहता है। इसीलिए अज्ञेय जैसे विदग्ध रुचि के पाठक की दृष्टि में वह साहित्य घटिया है। आश्चर्य नहीं अज्ञेय की दृष्टि में भारत का सारा लोक साहित्य जो भारत के जन-मानस की प्रकृत अनुभूति का अप्रायासिक अभिव्यंजन है, घटिया और सस्ता साहित्य हो। पर यह अपने अपने संस्कारों और रुचि की बात है। पर यह निश्चय है कि साहित्य अपनी जिस केंचुल को छोड़ चुका है उसे फिर से पहिनाने का प्रयत्न पाँचवें सवार बनने की ख्वाइश मात्र हो सकती है, विदग्ध साहित्यिकता नहीं। अपने सामन्ती संस्कारों के कारण यदि अज्ञेय नवीन प्रकृत अनुभूति के साहित्य से तादात्म्य नहीं कर पाते तो इसके लिए उनके संस्कार दोषी हैं, सारा आधुनिक साहित्य घटिया नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त इसी लेख में लेखक ने और भी अनेकों समस्याओं को छुआ है। क्रांति के पहिले साहित्य के सुधार की इच्छा प्रकट की है। आलोचक राष्ट्र के निर्माण का सुझाव दिया है। उन्हें सामन्तयुग की फरमाइशी कला गर्वीली और मुक्त लगती है और आधुनिक साहित्य-कला बन्दिनी और मजबूरन व्यभिचार करती हुई 'नटनी' और 'मिस लिटरेचर' प्रतीत होती है।

परिस्थिति से त्राण पाने के शिक्षा-दीक्षा आदि उपाय भी सुझाए गए हैं, जो बहुत ही हास्यास्पद हैं। क्योंकि हमारे सांस्कृतिक ह्रास का कारण मशीन नहीं वरन् मशीन पर, उत्पादन के साधनों पर वर्ग विशेष का अधिकार तथा वितरण की ग़लत व्यवस्था है। जब तक इस मूल सत्य को नजरन्दाज किया जावेगा, कोई त्राण ऐसे विचारकों को नहीं है। संक्रामक पूंजीवाद ने जिन परिस्थितियों को जन्म दिया है उनका इलाज उसके पास नहीं है। शिक्षा, दीक्षा सब ऊपरी चीजें हैं। पूंजीवाद के बुर्जुआई प्रतिनिधि तंत्र द्वारा उत्पन्न इस सांस्कृतिक ह्रास को दूर कर नई स्वस्थता लाने का एक मात्र उपाय है, समाजवाद, जनता का प्रजातन्त्र। सोवियत इसका उदाहरण है जहाँ यंत्र संस्कृति के विकास के सबल रक्षक और मनुष्य की प्रकृति पर विजय के उद्घोषक हैं। पर अज्ञेय की दृष्टि वहाँ तक नहीं जाती।

इस लेख में जिस परिस्थिति को उपस्थित किया गया है वह भारत की बजाय औद्योगिक इंग्लैंड से अधिक मिलती जुलती है। अतः लेखक अज्ञेय ने

विदेश के लेखकों के उन लेखों से प्रभावित होकर लिखा प्रतीत होता है जो कि वहाँ के लेखकों ने यंत्र-युग के प्रवेश से उत्पन्न भीषण परिस्थिति से परेशान होकर लिखे हैं।[1]

'चेतना का संस्कार' शीर्षक निबन्ध में विकास की तीसरी स्थिति की कल्पना की गई। लेखक के मतानुसार शरीर और बुद्धि के क्षेत्र में होने वाला विकास पूर्ण हो चुका है, अब उसमें दिशा-परिवर्त्तन की आवश्यकता है। अतः विकास की क्रिया अब चेतना के क्षेत्र में गतिशील होगी। इससे 'नई अंतर्दृष्टि पाकर हम सत्य के निकटतर पहुँच सकेंगे......हम काम-वासना के चंगुल से निकल सकेंगे......और निस्संदेह मानवीय सम्बन्धों और व्यापारों के लिये कोई अहिंसा मूलक आधार खोज निकालेंगे।[2]

लेखक ने विकासवाद (जो जीव-विज्ञान का ही एक सिद्धांत है) के विज्ञान से अहिंसामूलक आधार खोजने की बात कहकर अपना गांधीवादी प्रचारक का चेहरा स्पष्ट कर दिया है। पर प्रचार का रास्ता यह नहीं होता। बेहतर हुआ जो अज्ञेयजी ने एलजब्रा और रेखागणित के क्षेत्र में नये विकास की कल्पना नहीं की, अन्यथा वहाँ भी अहिंसामूलक आधार मिल ही जाता। इसी निबन्ध में वे विकास और आस्तिकता के प्रश्न पर विचार करने का प्रयत्न करते हैं। वे विकासवाद में विश्वास रखते हुए भी आध्यात्मिकता के ह्रास से परेशान हैं। उनका कमज़ोर दिल धर्म और आचारशास्त्र के स्थान पर किसी नई पद्धति की माँग करता है।[3] कामुकता के चंगुल से निकलने और भोगवाद से कुन्द होती हुई नैतिक चेतना को मुक्त करने की बात का नकलीपन उनका साहित्य अच्छी तरह से सिद्ध कर देता है। निबन्ध के अन्त में लेखक ने स्पष्ट स्वीकार कर लिया है कि यह सब एक प्रकार का नूतन रहस्यवाद का पथ है।

साहित्य के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से 'कला का स्वभाव और उद्देश्य', 'रूढ़ि और मौलिकता', 'वागार्थ प्रतिपत्तये', 'संक्रान्तिकाल की साहित्यिक समस्याएँ' आदि निबन्ध पठनीय हैं।

---

१. देखिए त्रिशंकु पृष्ठ १००

२. „ „ „ ८८

३. फ्रायड ने तो अपने मनोविज्ञान द्वारा यही कर दिखाया है। कॉडवेल के शब्दों में फ्रायड द्वारा कल्पित मनोग्रंथियाँ ओलीम्पीयन देवताओं के समान देदीप्यमान पौराणिक देवता हैं।

'कला' की परिभाषा करते हुए अज्ञेय लिखते हैं :

'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न है, अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।'१

परिभाषा देने के बाद उसकी सिद्धि के प्रमाण जुटाने के लिये वे कला के प्रागैतिहासिक युगीन स्वरूप पर विचार करते हैं, जबकि कला का आदि उद्‌गम हुआ था। इस कल्पना के बाद, जिसका कि कोई वैज्ञानिक और ऐतिहासिक आधार नहीं है, जिसे स्वयं अज्ञेय ने कल्पना कहा है, वे विचित्रता पूर्ण निष्कर्ष निकालते हैं कि कला हीनता या अपर्याप्तता की अनुभूति की क्षतिपूर्त्ति का प्रयत्न है।

किन्तु क्या कला की परिभाषा देने के लिए यह आवश्यक है कि हम किसी आदिम युग की कल्पना करें? क्योंकि इस प्रकार की कल्पना करना तब उपयुक्त होता जब हम कला के मूल उद्‌गम या प्राथमिक विकास पर विचार कर रहे होते। कला आज मर नहीं गई है। वर्त्तमान ही नहीं युगों की संचित कला हमारे पास है। उसे देखकर, उसकी जाँच-पड़ताल करके, उसका वैज्ञानिक अध्ययन करके हम कला की परिभाषा दे सकते हैं। और यह परिभाषा सार्वभौम भी होगी। केवल आदिम युग की कल्पना करके सारी कला के सम्बन्ध में फ़तवा नहीं दिया जा सकता। क्योंकि इस प्रकार की परिभाषा केवल कला के आदि स्वरूप पर ही प्रकाश डालेगी। किन्तु वह भी तभी जब कि उस युग तक हमारी पहुँच पूर्णतया वैज्ञानिक हो। अज्ञेय की तरह गप्प-मूलक ढंग से नहीं। किन्तु अज्ञेय या कहिये कि उनका बुर्जुआ मनोविज्ञान तो मानव-मन को अपरिवर्तनशील तथा उसके अन्तर्मन को आज भी आदिम युगीन बर्बर मनोवृत्तियों का अतुल भण्डार मानता है न! देखिये आदिम युगीन और आधुनिक कलाकार की अभेदता :

'अन्तत: कन्दरावासी कलाकार और आधुनिक कलाकार में कोई विशेष भेद नहीं रहता; दोनों में ही एक अपर्याप्तता चीत्कार करती है।'२

यह फ्रायडियन मनोविज्ञान जिसे मैं मेटाफिजिक्स का ही नया मुलम्मा कहूँगा मानव-मन को परिस्थितियों के बदल जाने पर भी अपरिवर्तनशील मानता है। पर आज 'मन' की समस्या मनोविज्ञान के क्षेत्र से निकल कर भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में पहुँच गई है; जहाँ उसके अस्तित्व पर ही शंका की

१. त्रिशंकु पृष्ठ २३
२. त्रिशंकु ,, २७

जा रही है। अतः आज 'मन' जैसी कोई चीज़—यदि वह है भी तो—प्रयोग-शाला में है। और प्राप्त निष्कर्ष इस कथित मनोविज्ञान की मान्यताओं से मेल नहीं खाते। अतः जिस मनोविज्ञान के शाश्वत मन और अपरिवर्तनीय प्रवृतियों को आधार मानकर यह परिभाषा दी गई है आज अवैज्ञानिक हो चुके हैं। फिर इस परिभाषा की वैज्ञानिकता का प्रश्न ही नहीं उठता।

आदिम युग की जो कल्पना अज्ञेय ने की है वह वर्त्तमान मान-वशास्त्र द्वारा प्राप्त निष्कर्षों के विपरीत है। सहज ही प्रश्न उठते हैं कि क्या आदिम मानव में सामाजिक भावना की स्थापना वैज्ञानिक दृष्टि से सही है? क्या गुहा मानव का मस्तिष्क अपनी अनुपयोगिता का अनुभव करने में तथा उपयोगिता प्रमाणित करने के उपक्रम करने में सक्षम हो गया था? क्या तद्युगीन मानव में विवेकी मानव की मानसिक क्रिया 'सहयोग' की भावना का जन्म हो गया था? निश्चित ही यह तथ्य इतिहास के विरुद्ध है।

यदि इस परिभाषा को आज की कला पर लागू किया जाये तो कला उन लोगों की सृष्टि है जिनकी सामाजिक उपयोगिता नहीं है। ऐसे व्यक्ति सिवा लूलों, लंगड़ों, अंधों, विकलांगों, बीमार, विक्षिप्त और अपाहिज लोगों के और कौन हो सकते हैं? जो अपनी असामाजिकता या ठलुआपन की क्षतिपूर्ति के लिए कुछ तो भी बेतुके (कविता में सतुके भी) प्रयत्न करते हैं। अज्ञेय की दृष्टि में यही कला है।

इस परिभाषा के अनुसार दो तथ्य और स्पष्ट होकर सामने आते हैं। एक तो यह कि कला-सृजन के लिए व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से निकम्मा होना ज़रूरी है और दूसरा यह कि कला सामाजिक उत्पत्ति न होकर कुछ ठलुए व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न भ्रम है। दूसरे शब्दों में समाज के जीवन पर कुछ व्यक्तियों द्वारा आरोपित वस्तु है।

हाँ, यदि अज्ञेय ने यह परिभाषा अपने स्वयं के साहित्य को देख कर ही दी हो तो परिभाषा पूर्णतया सही है। वे अपने साहित्य के द्वारा स्वयम् को प्रमाणित करने का प्रयत्न ही तो कर रहे हैं।

'रूढ़ि और मौलिकता' शीर्षक निबन्ध टी. एस. इलियट के 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा' का भावानुवाद है। जिसमें इलियट के ऐतिहासिक चेतना तथा काव्यगत निर्व्यक्तीकरण इन दो सिद्धान्तों की स्थापना है। अपने इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए इलियट ने लिखा है:

"The historical sense compels a man to write not merely with his own generation in his bones, but with a feeling that the whole of the literature of Europe from Homer and within it the whole of the literature of his own country has a simultaneous existence and composes a simultaneous order. This historical sense, which is a sense of the timeless and the temporal together, is what makes a writer historical". (Tradition and the Individual Talent)

इतिहास की चेतना का, जो कि अतीत के चिर और अचिर दोनों रूपों से संयुक्त है , लेखक को ज्ञान आवश्यक है। इतिहास की यह दुहरी चेतना, उसके इन दो रूपों की कल्पना, अपने में कोई तार्किक संगति नहीं रखती। इसी इतिहास की चेतना के आगे व्यक्तित्व के उत्सर्ग का प्रश्न उठता है। समग्र ऐतिहासिक चेतना दूसरे शब्दों में रूढ़ि के उपयोग करने का आदर्श हिन्दी में बिहारी का रहा है। जिन्होंने नायिका-भेद की परम्परित और प्रचलित रूढ़ि के सम्मुख अपने व्यक्तित्व का उत्सर्ग कर उसका लाभ उठाया। या फिर दृष्टिकूट पद हैं, जिनमें रूढ़ि की चेतना का उपयोग तथा कलाकार के व्यक्तित्व का निषेध है। पर प्रश्न है क्या वे महान् बन सके ? एक कलाकार को अपनी परम्परा का ज्ञान आवश्यक है किन्तु उसका दृष्टिकोण स्पष्ट होना चाहिए। हम वर्त्तमान और अतीत को कभी भी एक दृष्टि से नहीं देख सकते अन्यथा हम इतिहास को उसके सही रूप में समझने में सर्वथा असफल रहेंगे। इलियट ने इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण पर लिखते हुए लिखा है :

"It is a part of the business of the critic to preserve tradition where a good tradition exists. It is part of his business to see literature steadily and to see it whole; and this is eminently to see it not as consecrated by time but beyond time; to see the best work of our time and the best work of twenty five hundred years ago with same eyes."

(Introduction to "The Sacred Wood")

इस कसौटी पर सबसे पहिले प्रेमचन्द कसे गये। 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' का उदाहरण देकर लेखक ने उनके साहित्य को इसी भावना से युक्त बतलाया और इस प्रकार प्रेमचन्द को 'जीनियस' से कम सिद्ध कर दिया। इसी तरह जैनेन्द्र, बच्चन, महादेवी, प्रसाद और कमला चौधरी में भी इसी भावना को खोज निकाला गया।

इस निबन्ध में विचारणीय प्रश्न दो हैं। एक तो लेखक ने प्रेमचन्द के आदर्शवाद और प्रसाद के पलायनवाद को एक ही भावना के दो रूप मान कर पर्याय सिद्ध कर दिया है; और दूसरे आदर्शवाद को दौहार्द की भावना का प्रतिफलन माना है। ये दोनों ही बातें असंगत हैं। क्योंकि इस दृष्टि से विश्व का सारा आदर्शवादी साहित्य दौहार्द की भावना का ही प्रतिफलन प्रतीत होगा। और आलोचना की इस कसौटी पर सभी महान् साहित्यकार 'जीनियस' से कम सिद्ध होंगे। साथ ही यदि आदर्शवाद आश्रय की खोज के कारण दौहार्द की भावना की सृष्टि है तो भक्ति की भावना भी तो अन्ततः आश्रय की खोज ही है। और सियारामशरण जी के साहित्य में वह खूब मिल जायेगी। फिर वे ही अपवाद क्यों? फिर हिन्दी में 'जीनियस' मात्र बचेंगे तो अज्ञेय।

महादेवी वर्मा द्वारा संकलित उनकी कविताओं का जो संकलन साहित्य सम्मेलन ने प्रकाशित किया है उस पर लिखते हुए अज्ञेय ने प्रमुख रूप से महादेवी जी की भूमिका की आलोचना की है। कविताओं के विषय में कहा गया है, 'महादेवी जी की कविता चिर कलामय, सदा रसमय है। यह कलाकार की विजय है; व्यक्ति की आलोचना में अवश्य प्रश्न उठ सकता है कि क्या जीवन-प्रवाह सदा और सर्वत्र इतना सीधा और स्निग्ध हो सकता है, क्या नदी नहर के पाट में बह सकती है'?[1] इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। किन्तु अज्ञेय इलियट के जिस निर्व्यक्तीकरण के सिद्धान्त को साहित्यालोचन में लागू करने का प्रयत्न कर रहे हैं वह काव्य और व्यक्ति के इस पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता। और ऐसी स्थिति में उठाया गया प्रश्न संगत होते हुए भी उनके सिद्धान्तों के प्रतिकूल है।

सन् १९४५ से १९४७ तक के साहित्य का परिचय कराते हुए अज्ञेय ने हजारी प्रसाद जी द्विवेदी की कृति 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को पूर्णतया इतिहास सम्मत बताया है और साथ ही राहुल जी के ऐतिहासिक उपन्यासों को जाली कहा है। जहाँ तक द्विवेदी जी की कृति का सम्बन्ध है उसकी

१ त्रिशंकु की भूमिका।

ऐतिहासिकता असन्दिग्ध है। यद्यपि त्रुटियाँ वहाँ भी हैं। जिसके लिए 'प्रतीक' (१०, हेमन्त) में प्रकाशित नलिनविलोचन शर्मा और भगवतशरण उपाध्याय की आलोचनाएँ देखी जा सकती हैं, जो अज्ञेय ने ही सम्पादित की हैं। जहाँ तक राहुल जी के उपन्यासों का सम्बन्ध है यदि अज्ञेय की दृष्टि में वे जाली हैं या उनकी ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है तो इसके लिए उन्हें प्रमाण देना चाहिये था। इससे तो लेखक का पक्षपात स्पष्ट नज़र आता है।

कुछ ऐसी आलोचनाएँ उन्होंने लिखी हैं जिन्हें आलोचना की अपेक्षा पुस्तक-परिचय कहना अधिक संगत होगा। ये इस प्रकार हैं: दो हिन्दी पुस्तकें (बेढब की बहक और शेष स्मृतियाँ) सा० सन्देश, अप्रैल १९४०। तीन पुस्तकें (एकान्त संगीत, तुलसीदास और जीवन की मुस्कान) सा० सन्देश, अगस्त १९४०। तीन नई पुस्तकें (दो फूल, नहुष और जीवन-सन्देश) सा० सन्देश, दिसम्बर १९४०। दो कहानी संग्रह (खाली बोतल और शराजी) सा० सन्देश नवम्बर १९४१।

'त्रिशंकु' की भूमिका में लेखक ने गर्वोक्ति के साथ लिखा है: 'हिन्दी में आलोचना क्रमशः उन्नति कर रही है, पर आलोचना के नाम से निरे 'उच्छ्वास' से बढ़कर भी हम प्रायः व्याख्यात्मक आलोचना तक ही आते हैं, मूल्यांकन के प्रयत्न हमारी आलोचना में नहीं के बराबर होते हैं।'

'केशव की कविताई' एक वार्त्तालाप के ढंग पर आलोचना है। जिसमें अज्ञेय ने केशव को महाम् कवि सिद्ध किया है। बलराज और त्रिपाठी केशव की कविता पर चर्चा कर रहे हैं। बलराज केशव की महानता के कायल नहीं हैं और त्रिपाठी उन्हें वह महानता स्वीकार कराने में अक्षम प्रतीत हो रहे हैं। इसी बीच में आनन्द का प्रवेश होता है। कुछ देर बात करने के बाद आनन्द केशव को महान् सिद्ध करने के लिए इलियट का हवाला देकर 'मॉडर्न' का आतंक उत्पन्न करते हैं और फिर बलराज आँख मूँद कर केशव को महान् मान लेते हैं और आनन्द वही कर दिखाते हैं जो करना चाहिये था त्रिपाठी जी को। और अज्ञेय वही कर दिखाते हैं जो करना चाहिए था लाला भगवानदीन को। पर वे बेचारे इस आतंक की विद्या से दूर थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस लेख में अज्ञेय ने हिन्दी पाठक को मूर्ख बनाने की कोशिश की है। 'मॉडर्न' शब्द की धमकी से ऐसा आतंक उत्पन्न करने की कोशिश की जिससे हिन्दी पाठक बलराज की तरह उनकी

सभी स्थापनाओं को आँख मूँद कर मान लें। इस प्रकार अज्ञेय हिन्दी में आतंकवादी समीक्षा की शुरूआत करते नजर आते हैं।

अब रहा केशव का अपना प्रश्न। साहित्य के विद्यार्थी इस तथ्य से अपरिचित नहीं हैं कि केशव के पहिले कृपाराम, मोहनलाल मिश्र, करनेस, बलभद्र मिश्र आदि बहुत कुछ रस-निरूपण कर चुके थे। रहीम का बरवै नायिका भेद लिखा जा चुका था। अतः यह कहना कि केशव ने 'ट्रेडीशन' बनाया पूर्णतः ग़लत है। 'ट्रेडीशन' उसे कहते हैं जिसका आगे आने वाली पीढ़ियों ने अनुकरण किया हो। पर निश्चय ही केशवदास ने जो काव्यांग-निरूपण किया उसका हिन्दी में अनुकरण नहीं हुआ। देखिए आचार्य शुक्ल क्या लिखते हैं :

'पर केशवदास के उपरान्त तत्काल रीतिग्रंथों की परम्परा चली नहीं। कविप्रिया के ५० वर्ष पीछे उसकी अखण्ड परम्परा का प्रारम्भ हुआ। यह परम्परा केशव के दिखाए हुए पुराने आचार्य (भामह, उद्‌भट आदि) के मार्ग पर चलकर परवर्त्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार-अलंकार्य का भेद हो चुका था।'[1]

केशव ने अपने निरूपण की सारी सामग्री दंडी के 'काव्यादर्श' तथा केशव मिश्र के 'अलंकार शेखर' से ली है। अस्तु, अज्ञेय का यह दावा कि 'केशव ने हिन्दी की एक भारी कमी दूर की, और यदि बाद के कवि भी इतना ही गम्भीर ज्ञान रखने वाले होते तो हिन्दी की वह दशा न होती जो रीतिकाल के अन्त में हुई।'[2] पूर्णतया अयुक्तिसंगत है। बेहतर होता यह फ़तवा देने के पूर्व यदि अज्ञेय ने संस्कृत और हिन्दी का सारा रीति-साहित्य नहीं पढ़ा था तो कम से कम दासजी के 'काव्यादर्श' को तो देख लिया होता। हिन्दी के पाठक एक साथ इतने मूर्ख नहीं हैं।

महात्मा ईसा, स्वप्न-भंग, रेवा और स्कन्दगुप्त इन चार नाटकों की संक्षिप्त समीक्षा लेखक ने की है, जिसमें लेखक ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि जिस सांस्कृतिक ह्रास से यूरोप चिन्तित है वह परिस्थिति हमारे यहाँ अभी नहीं है। इन नाटकों में लेखक ने नाटकों के सामाजिक और राजनैतिक पहलू पर प्रकाश नहीं डाला, जबकि सभी नाटक ऐतिहासिक होते हुए भी अपने युग की राष्ट्रीय चेतना से न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित हैं। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य स्वप्न-भंग का नैतिक ही नहीं राष्ट्रीय ध्येय भी था।

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २०२ संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण।

२—त्रिशंकु पृष्ठ ६७

'परिस्थिति और साहित्यकार' में लेखक ने बतलाया कि आज का हिन्दी साहित्य अतृप्ति का, दौहार्द की भावना का साहित्य है। आज की विषम परिस्थिति में वे सभी साहित्यकार दौहार्द की भावना से ग्रसित हैं जो जीनियस नहीं है।

निश्चय ही वाक्य का अंतिमांश स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित करता है कि यह एक ऐतिहासिक पहुँच नहीं है। इलियट प्रतिपादित 'इतिहास की समीक्षित चेतना' एक ऐतिहासिक दृष्टि न होकर इतिहास का निषेध है।

काव्य में व्यक्तित्व की तटस्थता के सिद्धांत के अनुसार कविता की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'कविता व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं वरन् व्यक्तित्व से पलायन है।' कविता में स्रष्टा का व्यक्तित्व नहीं रहता, यह नहीं माना जा सकता। स्वयं अज्ञेय स्वीकार कर चुके हैं कि मीरा की कविता इस निर्व्यक्तीकरण के सिद्धान्त पर खरी नहीं उतरतीं। आज तक के साहित्य को इस परिभाषा पर तौलने पर परिभाषा की अपर्याप्तता स्पष्ट दृष्टिगोचर होगी। किसी कलाकार के स्रष्टा और भोक्ता मन में जितना अन्तर होगा वह उतना ही महान् बन सकेगा। और इसके लिए कविता में व्यक्तित्व की तटस्थता आवश्यक शर्त्त है। इस कसौटी पर वह सारा काव्य हीन या निम्न कोटि का सिद्ध होगा जो व्यक्तित्व का ही अभिव्यंजन है। मेरा आशय सूर, कबीर, रवीन्द्र, मीरा, महादेवी और विनयपत्रिका के काव्य से है। वस्तुवादी काव्य में भी कवि का व्यक्तित्व परोक्ष रूप से सक्रिय रहता है। आज तक के साहित्य में ऐसा साहित्य प्रायः नहीं मिलेगा जिसमें लेखक का आत्माभिव्यंजन हुआ हो। हाँ, समस्या-पूर्त्तियाँ हमारे यहाँ अवश्य ऐसा साधन रहीं जिसमें व्यक्तित्व का अभिव्यंजन न होते हुए भी चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। पर कविता का ध्येय न तो मात्र चमत्कार-सृष्टि है और न अनुभूतियों का संकलन ही। अतः इस सिद्धान्त को आलोचना का एक फैशन भर कहा जा सकता है।

'वागार्थ प्रतिपत्तये' शीर्षक निबन्ध में भावप्रेषण की समस्या का हल एक विशेष ढंग से किया गया है। 'जो व्यक्ति का अनुभूत है उसे समष्टि तक कैसे अपनी पूर्णता में पहुँचाया जाये।'

इस कथन से स्पष्ट ज्ञात होगा कि समस्या मात्र भाव-प्रेषण और परबोध की न होकर व्यक्ति के अनुभव को अपनी पूर्णता में पहुँचाने की है।

यह सही है कि लेखक अपने को ठीक उसी रूप में प्रेषित नहीं कर पाता जिस रूप में कि उसने अनुभव किया है। पाठक और लेखक के अनुभव में तीव्रता का अन्तर रहता है। इसका कारण यही है कि जहाँ लेखक का अनुभव जीवनानुभूति पर आधारित मौलिक अनुभव है वही पाठक का अनुभव काव्यानुभूति पर आधारित एक प्रकार का विशिष्ट अनुभव है, जिसे हम अपरागत भी कह सकते हैं। लेखक अपने अनुभव को अपनी पूर्णता में तब तक पाठक तक नहीं पहुँचा सकता जब तक काव्यानुभूति और जीवनानुभूति में अन्तर वर्त्तमान है।

'संक्रान्तिकाल की कुछ समस्याएँ' शीर्षक लेख 'साहित्य किसके लिये', 'राजनीति और साहित्य', 'साहित्य और प्रगति' तथा 'क्या लेखक बिकाऊ है' इन चार भागों में बँटा हुआ है। लेखक ने साहित्य और राजनीति जैसे गम्भीर विषय पर भी सामाजिक दृष्टि से विचार न कर व्यक्तित्व की अनेक-रूपता की दृष्टि से ही विचार किया है। 'साहित्य किसके लिये' प्रश्न पर वे कहते हैं कि जनता को चाहिये कि वह शिक्षित बने। क्योंकि एक मौलिक अक्षमता के कारण प्रबुद्ध वर्ग उसे समझने में अक्षम है। वह अपना साहित्य आप निर्माण करे। समाज निरपेक्ष व्यक्तिवादी के ये उद्‌गार आश्चर्य की वस्तु नहीं है। पर दुःख तो तब होता है जब इस प्रकार के नक़ाबपोश इस नकली ईमानदारी को ताक़ में रखकर अपना वह साहित्य जो जनता के लिये नहीं लिखा गया है, जनता के बेटों (विद्यार्थियों) के कोर्स में प्रेस्क्राइब्ड कराने के लिये षड्यन्त्र करते फिरते हैं। 'साहित्य और प्रगति' शीर्षक लेख भी पूर्णतया चिन्तन की यान्त्रिकता का सूचक है। लेखक साहित्य को परिस्थितियों का यान्त्रिक प्रतिफलन मानते हैं और साहित्यकार की सजीवता और सक्रियता का उल्लेख नहीं करते।

'उच्छ्वास' और व्याख्यात्मक आलोचना की तो बात ही छोड़िए। रेडियो से प्रसारित करने के लिए पुस्तक-परिचय लिखने का जो ढंग अज्ञेय ने अपनाया है (जिसका कि आर्थिक पहलू भी स्पष्ट है) क्या वही मूल्यांकन का प्रयत्न है? इससे इस कथित मूल्यांकन की परिभाषा स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार के पुस्तक-परिचय में आलोचना जैसी कोई चीज़ नहीं तो फिर विचार-विमर्श की गुंजाइश कहाँ? हाँ, इससे यह साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि इस पुस्तक परिचय-नुमा आलोचना (!) का रेडियो से खासा और घनिष्ट सम्बन्ध है।

'संस्कृति और परिस्थिति' शीर्षक लेख में लेखक यंत्रों के प्रचार के कारण होने वाले सांस्कृतिक ह्रास से परेशान थे। पुराने सामाजिक संगठन के अवशेष (संस्कृति के) वहीं दिखाई दे रहे थे जहाँ रेडियो, मोटर-लारी और सिनेमा नहीं पहुँचे हों। किन्तु 'चार नाटक' शीर्षक लेख में स्पष्ट कर दिया कि यह परिस्थिति अभी अंग्रेजी में है हिन्दी वालों को घबराने की जरूरत नहीं है। इसका कारण यही हो सकता है कि सम्भवतः पहिला लेख घर बैठकर किसी पत्र-पत्रिका के लिए लिखा गया होगा जिससे अंग्रेजी की परिस्थिति को हिन्दी पर लागू कर दिया था और दूसरा लेख रेडियो से प्रसारित करने के लिए। इसलिए दो प्रकार की परस्पर विरोधी बातें आ भी जायें तो क्या हर्ज है। आखिर रेडियो स्टेशन के भीतर बैठकर तो उसे संस्कृति का घातक नहीं कहा जा सकता।

अपने लेखों में वे इतने अधिक अमौलिक और उधार लिये हुए विचारों को अभिव्यक्ति देते हैं कि उनके कथन में जगह जगह असंगतियाँ भरी पड़ी हैं। 'तार सप्तक' के वक्तव्य में वे सामाजिक रूढ़ि को फ्रायड की तरह अपरिवर्तनीय मानकर व्यक्ति के स्वच्छन्द विकास का अवरोधक मानते हैं वहीं 'रूढ़ि और मौलिकता' में इलियट के भक्त बनकर रूढ़ि के सम्मुख व्यक्तित्व के उत्सर्ग की बात करते हैं।

आलोचना में जहाँ उनका विचार-पक्ष लचर और थोथा है उसी प्रकार भाषा भी लचर, ढीली और शब्दों के असंगत, गलत और अवैज्ञानिक प्रयोगों के कारण अप्रासादिक तथा प्रभविष्णुता से हीन हो गई है। एक 'मौलिक' शब्द ही देखिए। इसका कितना अनर्गल प्रयोग अज्ञेय ने किया है। 'तार सप्तक' के सम्पादकीय वक्तव्य में उन्होंने सातों कवियों की मत-भिन्नता का उल्लेख करते हुए कहा है कि जीवन के स्वयं-सिद्ध 'मौलिक सत्यों' के सम्बन्ध में भी एक मत नहीं हैं। सत्य का यह मौलिक और अमौलिक स्वरूप स्पष्ट करने का कष्ट उन्होंने नहीं किया। 'तार सप्तक' में अपने वक्तव्य में वे कहते हैं कि यह (Communication) कवि-कर्म की ही 'मौलिक समस्या' है।' बेहतर होता यदि लेखक ने कविकर्म की मौलिक और अमौलिक समस्याओं को स्पष्ट किया होता।

'साहित्य किसके लिए' में भी उन्होंने उसी शब्द को फिर दुहराया है। वे कहते हैं कि प्रबुद्ध साहित्य को जनता समझने में अक्षम है और ऐसा

वह किसी दम्भ के कारण नहीं वरन् अपनी 'मौलिक अक्षमता' के कारण ।

इससे स्पष्ट है कि अज्ञेय शब्दों का कितना अवैज्ञानिक तथा अनर्गल उपयोग करते हैं । इन्हीं कारणों से भाषा कई जगह दुरूह हो गई है। उधार लिए हुए विचारों में असामञ्जस्य न बिठा सकने के कारण प्रतिपादन में शिथिलता स्पष्ट दिखाई देती है ।

शैली की दृष्टि से भी देखा जाए तो कुछ नवीनता प्रतीत नहीं होगी । वार्त्तालाप के ढंग पर आलोचना की शैली जो अज्ञेय ने 'केशव की कविताई' में अपनाई है, काफ़ी पहिले प्रचलित हो चुकी थी और आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी तथा नगेन्द्र जी इसका प्रयोग अपनी आलोचनाओं में कर चुके थे ।

अज्ञेय के आलोचना-साहित्य का अध्ययन स्पष्ट रूप से हमें कुछ तथ्यों के निकट लाता है । अज्ञेय अपने जीवन की भाँति ही आलोचना में भी आतंकवादी रहे हैं । इसके साथ ही उनके विचार इतने अधिक आत्मनिष्ठ हैं जो उन्हें फासिज़्म के निकट पहुँचा देते हैं । उनमें हीनत्व इतना प्रबल है कि वे प्रत्येक कार्य का विरोध करके ही अपने को प्रमाणित कर देना चाहते हैं । और इसीलिये वे 'विद्रोह के लिये विद्रोह' की भावना से दूर नहीं है ।

किन्तु देश की प्रगतिशील शक्तियों को इस प्रकार के प्रतिक्रियावादी और दक़ियानूसी विचारकों से घबराने की आवश्यकता नहीं है । प्रभाकर माचवे के शब्दों में 'वे अलामंवाच से अधिक कुछ नहीं है' जो कुछ समय तक टिन-टिन करके रह जाती हैं ।'

साहित्य में मज़दूर-वर्ग की भूमिका

आधुनिक युग श्रमिकों का युग है । बड़ी तादाद में एक नये श्रमिक-वर्ग का उदय आधुनिक युग में हो रहा है—यह वर्ग अपनी निजी विशेषताओं के कारण वर्तमान समाज के अन्य सभी वर्गों से ही नहीं अपितु मनुष्यता के इतिहास में आये हुए सभी वर्गों से अधिक संगठित तथा शक्तिशाली है। मनुष्यता का भविष्य आज उसके हाथों सुरक्षित है।

अस्तु, यह जानना आवश्यक है कि वर्त्तमान श्रमिकवर्ग की वे कौन-सी विशेषताएँ हैं—वे कौन-से भेदक तत्त्व हैं जिनके कारण वह अपने से पिछले युग के श्रमिकवर्ग से अधिक संगठित तथा शक्तिसम्पन्न हैं ? आधुनिक श्रमिक और मध्ययुगीन श्रमिक में सबसे पहिला अन्तर तो यह है कि मध्ययुग के श्रमिक के जहाँ श्रम के प्रतिफल पर अपना अधिकार रहता था वहाँ आधुनिक मजदूर और उसके श्रम के प्रतिफल में कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। दूसरे मध्ययुग का श्रमिक अपना श्रम बेचकर श्रम द्वारा उत्पाद्य वस्तु बेचता था जबकि आधुनिक मज़दूर अपना श्रम बेचने के लिए विवश है। उत्पाद्य वस्तु के अतिरिक्त उत्पादन के साधनों पर जहाँ तद्युगीन श्रमिक का अपना अधिकार रहता था—जैसे दस्तकार का अपने करघे पर—आधुनिक श्रमिक का उत्पादन के साधनों पर कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार आधुनिक श्रमिक जिसका न तो उत्पादन के साधनों पर अधिकार है और न उत्पाद्य वस्तु पर, जो अपना श्रम बेचकर श्रम के प्रतिफल से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखता—पूरे अर्थों में सर्वहारा है। आधुनिक श्रमिक के उत्पादन के साधन मशीनें हैं—जिन पर उसका कोई अधिकार नहीं है। फलतः मशीन और आधुनिक श्रमिक के बीच कोई रागात्मक सम्बन्ध नहीं रह गया है। मध्ययुग में उत्पादन की क्रिया वैयक्तिक रूप में थी जबकि आधुनिक युग में उत्पादन की क्रिया सामूहिक रूप लेती जा रही है। इसके साथ ही श्रम-विभाजन की क्रिया ने मजदूर और उसके श्रम के बीच होने वाले मजदूर अपने श्रम का प्रतिफल नहीं कह सकता। यह एक ऐसा तत्व भी है जिसने आधुनिक श्रमिक को सामूहिक रूप में संगठित होने की काफ़ी प्रेरणा दी है तथा उसे सामूहिक जीवन की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी है। इन भेदों के अतिरिक्त जो सबसे बड़ा कारण है

जिसने कि आधुनिक मजदूर को मध्ययुगीन श्रमिक से काफी आगे लाकर खड़ा कर दिया, वह है आधुनिक श्रमिक का वर्गचेतना से युक्त होना।

इस नये उठते हुये वर्ग का सामाजिक जीवन पर व्यापक असर पड़ा। उसने अपने अस्तित्व के साथ ही विगत युग की सारी मान्यतायें नष्ट कर दीं। जीवन मूल्यों में विराट परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ। सामाजिक जीवन में कायम पुराने आर्थिक सम्बन्ध और सामन्ती रिश्ते एक झटके के साथ टूटने लगे और नये वर्ग-सम्बन्धों का निर्माण होना प्रारम्भ हुआ—जिसमें जाति और वंश की श्रेष्ठता समाप्त होने लगी, धर्म की चेतना लुप्त हुई व एकतन्त्र का स्थान प्रजातन्त्र ने लिया। वर्तमान प्रजातन्त्र मानव समाज को मज़दूर वर्ग की ही तो देन है। नैतिक मूल्य भी बदले। युगों की बंदिनी अभिशापित नारी मुक्त हुई, नारी और पुरुष के यौन-सम्बन्धों में परिवर्तन हुये। परिवार और विवाह की संस्थाओं का पुराना ढाँचा बदला।

पर इसके साथ यह भी सही हैं कि जहाँ मजदूर वर्ग ने मनुष्यता को सामन्तवाद से मुक्त कर उसकी रक्षा के लिये उसे प्रजातन्त्र को अमोघ कर दिया वहीं—प्रजातन्त्र की इस महान संस्था पर कुछ श्रमचोरों का अधिकार हो गया—जिन्होंने इस वर्ग की स्थिति को और भी कमजोर बनादी। मजदूरवर्ग ने प्रजातन्त्र की छाया में जिन नैतिक और सामाजिक मूल्यों को ध्वस्त किया था—उनके स्थान पर नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठा यह वर्ग अभी नहीं कर पाया है। और फलस्वरूप युगजीवन बिखरे मूल्यों का अस्त-व्यस्त जीवन है।

साहित्य समाज-निरपेक्ष नहीं होता। वह एक विराट सामाजिक चेतना है—असामाजिक व्यक्ति की आत्मा व्यंजना या अहम् का विस्फोट नहीं। वह समाज का निज दर्पण नहीं वरन् सामाजिक प्रभाव का एक प्रबल अस्त्र है। समाज में होने वाले परिवर्तनों का न केवल साहित्य में प्रभाव ही पड़ता है वरन् वह इसे प्रभाव के द्वारा समाज में परिवर्तन भी उत्पन्न करता है।

समाज के जीवन में उदित बालारुण सदृश शक्तिशाली इस नये युग का साहित्य पर प्रभाव न पड़ता यह कैसे सम्भव था और फलस्वरूप उसके वे मूल्य एक झटके के साथ टूटे और बिखर गए जो चिरन्तन कहलाते थे, जिन्हें एक वर्ग अपने हितों की रक्षा के शाश्वत मूल्य कह कर उन पर अपरिवर्तनशीलता का बाना पहिनाए हुये था। रिक्त स्थानों पर नए मूल्यों की सृष्टि, स्वस्थ तथा जीवन पोषक तत्त्वों की प्रतिष्ठा हुई।

यह नहीं कि आज के साहित्य में श्रमिकों के जीवन के चित्र अधिक रहते हैं, धीरोदात्त प्रतापवान् नायक का स्थान साधारण मजदूर ने ले लिया। है—यह तो उसका एक सशक्त पहलू है ही—किन्तु इस पर विचार करने के पूर्व श्रेयस्कर हो यदि हम साहित्य में हुए उस श्रमिक वर्ग के चित्रण को देखलें जो आज के श्रमिक का पूर्वज था, इतिहास का वह वर्ग था जो निरन्तर संघर्ष करता रहा—पर उसके खून से लथपथ होकर भी इतिहास जिसके लिए मौन है। जिसके आँसुओं और मुस्कान के इतिहास ने, इतिहासकारों ने कोई पर्वाह नहीं की, जिस पर एक छन्द भी न लिखा जा सका। पर जिसके अपरिमेय बलिदान की शक्ति से आज समाज के जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा हो रही है।

प्राचीन साहित्यकारों ने श्रमिकों का चित्रण न किया हो—ऐसी बात नहीं है। कालिदास ने मछवाहे का चित्रण किया है—पर कथावस्तु के संगठन के साधन के रूप में। उसके प्रति कालिदास की पृथक् एवम् मौलिक सहानुभूति के दर्शन नहीं होते। कबीर का जुलाहा तो जैसे उनके ब्रह्म की तरह अरूप ही है। सूर का ग्वाला भी ग्वाला न रहा क्योंकि उनका दर्शन उसे यथार्थ ग्वाला स्वीकार न कर देवताओं का अवतार मानता था। हाँ, तुलसी ने केवट का चित्रण काफी मांसल, यथार्थ तथा वस्तुगत रूप से किया है। केवट की चेतना मध्ययुग के श्रमिक की चेतना है—जो अपने उत्पादन के साधन से अपार प्रेम करता है, वह तथा उसका परिवार केवल उसी पर निर्भर है।

'मेरो परिवार सब याहि लागि राजाजू,
हौं दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाई हौं।'

तुलसी ने निषादराज और ब्रह्मर्षि वशिष्ठ को जिस एक भावभूमि पर खड़ा करके गले लगाया वह मध्ययुग के काव्य का ऐतिहासिक मार्गचिह्न है।

पर यह उदात्त चेतना आगे विकसित नहीं हुई। रीति-युग में जहाँ जीवन की अन्य विकासोन्मुख प्रवृतियों की तरह ही मध्ययुग की यह अभिनव मानवतावादी चेतना निष्पंद हो गई। इस निष्पंद, कुन्द होती हुई चेतना को यंत्रयुग के प्रवेश से उत्पन्न हुए श्रमिक ने झकझोरा और नई गति दी।

यह नई चेतना जैसा कि पहले कहा गया जाति और धर्म की जीर्ण केंचुल फाड़कर आगे बढ़ी। उनका स्थान देश, राष्ट्र और मानवता ने ग्रहण किया। राष्ट्रीयता के स्वरूप का परिष्कार हुआ और मानवता की भावना पर आधारित राष्ट्रीयता आधुनिक श्रमिक वर्ग के उदय के साथ अपने वैज्ञानिक रूप में

हमारे सम्मुख उपस्थित हुई। आगे चलकर पूंजीवाद के प्रतिनिधितंत्र ने इसके पावन स्वरूप को नष्ट कर उसे आक्रामक राष्ट्रीयता का रूप देकर फासिज्म को जन्म दिया।

साहित्य में एक बड़े परिमाण में राष्ट्रीय साहित्य का उदय हुआ। गुलाम देशों की जनता ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी नफरत को जाहिर करते हुए अपने आन्दोलन को आगे बढ़ाया। राष्ट्रीयता के स्वरूप को आगे च लकर जो पर्यवसान हुआ वह समाजवाद की भावना में हुआ, वर्गहीन समाज की भावना ने साहित्यकार को नई दृष्टि दी।

इस उभरती हुई चेतना ने सौन्दर्यशास्त्र के सिद्धान्तों में आमूल परिवर्तन की माँग की। सौन्दर्यशास्त्रियों को अपने नियमों को तोड़ना पड़ा। फलतः साम्प्रतिक युग के कला-समीक्षक के सौन्दर्यशास्त्र के पुराने सिद्धान्त टूट चुके हैं—पर कोई सार्वभौमिक नवीन मानदण्ड सम्मुख नहीं आया। इसीलिए वर्तमान सौन्दर्यशास्त्र एक संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। क्योंकि उसके पास कोई स्थिर तथा सार्वभौमिक मूल्य नहीं रह गये हैं—जिनके आधार पर वह कला का मूल्यांकन कर सके।

फिर भी कुछ रेखाएँ बन रही है। ये रेखाएं अभी बहुत ही महीन तथा बारीक हैं। पर नवनिर्माण की चेतना जाग उठी है यह असंदिग्ध है। ये रेखाएँ क्या हैं?

सर्वहारा वर्ग ने मानव के न केवल पुराने कला सम्बन्धी दृष्टिकोण को बदला है वरन् उसकी कला सम्बन्धी चेतना की गति में भी परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। मध्ययुग के कलाकार में कला के प्रति एक विशिष्ट प्रकार की मनोवृति रहती थी जिसे मार्क्स ने हीन कोटि का कलात्मक अभिरुचि कहा था। उत्पादन का वैयत्तिक क्रिया के विकास की गति सूक्ष्मता की ओर ही उन्मुख होगी—यह स्पष्ट है। उत्पादन के क्षेत्र में इसका उदाहरण ढाक की मलमल है। जिसमें कलाकार (दस्तकार) की कलात्मक अभिरुचि की सूक्ष्मतापरक गति स्पष्ट है। साहित्य के क्षेत्र में रीतिकालीन कवियों द्वारा नायिका के सूक्ष्म से सूक्ष्म हाव-भावों का चित्रण इस युग में हुआ। तभी तो पद्माकर की नायिका कृष्ण को पाँव में (नायिका के) माहुर लगाते देख "अति अनुचित है" कह कर रोक देती है। कला के वहिरंग में देखें तो कहना होगा कि मुक्तक काव्य के जन्म का काल सामन्त युग ही है। मुक्तक काव्य इसी प्रवृति का प्रतिफलन है।

आधुनिक युग में उत्पादन की क्रिया वैयक्तिक न होकर सामूहिक है। अतः उसकी गति सूक्ष्मता की ओर न होकर विराटोन्मुख है। उत्पादन की वैयक्तिक इसलिए होती थी कि विराट निर्माण व्यक्ति के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। सामूहिक उत्पादन की क्रिया ने मनुष्य में विराट और भीमकाय निर्माण की चेतना को जाग्रत किया—वह विराट का आराधक बना। मध्य-युग में भी जिन कलाओं के निर्माण में सामूहिक शक्ति का योग रहा उनमें विराटता की प्रतिष्ठा हुई—यह असंदिग्ध है। ताजमहल, कुतुबमीनार, लाल किला, ऐलोरा, अजन्ता—सभी इसके मुखर साक्षी हैं। सम्प्रति युग में विराट की साधना का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण वोल्गा-दोन के महा मिलन का बांध है।

अस्तु आज के साहित्य में मात्र सूक्ष्मता ही आराध्य नहीं—उसके स्थान पर व्यापक और मानवता की प्रतिष्ठा हो रही है। नवयुग का साहित्यकार विराट जन-जीवन का आराधक है।

इसके साथ ही साहित्य की दृष्टि अधिक उदार एवम् संवेदनशील बनी। कोमलता पर ही मर मिटने आ युग गया, कठोरता में भी नये साहित्यकार ने सौन्दर्य के दर्शन किये। केवल कोमल वस्तु में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा कोई तात्विक अर्थ नहीं रखती। क्योंकि कोमलता और सुन्दरता का कोई विशेष आपसी सम्बन्ध है यह नहीं माना जा सकता। इसीलिए कवि कोमल कलिका के स्थान पर बबूल के मृत्युञ्जयी सौन्दर्य का आराधक बन गया है।

कली निगाह में पली
हिली डुली कपोल में
हृदय प्रदेश में खिली
तुली हँसी के तोल में
गरम गरम हवा चली
अशान्त रेत से भरी
हरेक पाँसुरी जली
कली न जी सकी, मरी
बबूल आप ही पला
हवा से वह न जल सका
कठोर जिन्दगी चला
न जल सका, न मर सका।

कवि के इस परिवर्तित सौन्दर्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को एक बड़ी सीमा तक उपयोगितावाद ने प्रभावित किया है। वह वस्तु की उपयोगिता को एक बड़ा सामाजिक गुण मानकर उसके प्रति आदर की भावना की अभिव्यक्ति करने लगा है।

उपयोगितावाद की भावना के उदय का आधार समाज में श्रमिकवर्ग की सामूहिक शक्ति की प्रतिष्ठा है। जिसके बल पर वह समाज में श्रम के महत्व की प्रतिष्ठा करने के लिए सनद्ध है। श्रम के आधार पर अभिनव समाज रचना करने के लिए प्रयत्नशील है।

सौन्दर्यशास्त्र के दृष्टिकोण में हुए इस परिवर्तन का प्रभाव काव्य के वहिरंग और अन्तरंग दोनों पर ही व्यापक रूप से पड़ा। साहित्य अपना कलेवर बदल कर नये रूप में उठ खड़ी हुई।

साहित्य के वस्तु-संगठन में यथार्थवादी दृष्टिकोण ने प्रमुख स्थान ग्रहण किया। यथार्थवाद ने न केवल काव्य का जीवन से निकट सम्पर्क ही कायम किया अपितु समाज के उन अंगों को भी दृष्टि के सम्मुख लाने का कार्य किया जिनकी ओर आज तक हमारी दृष्टि नहीं गई थी। साहित्य में कल्पना की आकाशगामी गति के स्थान पर उसके भूमिसम्पर्क ने उसे वास्तविकता से जोड़ दिया। उपन्यासों के पात्र कल्पित लोक के न होकर हमारे निकट के आस पास के जीवन के होने लगे। साहित्य में यथार्थवाद का उदय आदर्श की भावना अपदस्थ करके हुआ है। दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विजय ने साहित्य में आदर्शवाद के स्थान पर वस्तु-प्रेरित यथार्थवाद की प्रतिष्ठा की।

पर यह यथार्थ स्थिर और जड़ नहीं है। क्योंकि आज का लेखक और कवि जागरूक है, वह जनता के संघर्ष से अछूता नहीं है। वह जानता है कि मज़दूर संघर्ष कर रहा है, और एक दिन उसकी विजय निश्चित है। यथार्थ की इसी गत्यात्मक चेतना को कवि ने अंकित करते हुए लिखा है

लड़ रहा मज़दूर बाजी हाथ है।
जिन्दगी मरती नहीं विश्वास है॥

—शील

यथार्थ के इसी गत्यात्मक पहलू को समाजवादी यथार्थवाद कहा गया। हर्बर्ट रीड के अनुसार वह वास्तविकता का गत्यात्मक पहलू है—जो अपनी गति में विश्व सर्वहारा की विजय तथा समाजवाद की ओर गतिशील रहती है।

हाँ, यह सही है और बड़े ही दुःख के साथ स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ता है कि कई प्रगतिशील कहे जाने वाले साथियों ने मजदूर वर्ग की चेतना को विकसित कर ऊंचा उठाने की अपेक्षा अपने मन के क्षयी रोमांस में फँसकर उसे विकृत कर दिया है। इसका कारण उनके भीतर नारी के प्रति एक स्वस्थ और जनवादी दृष्टिकोण का अभाव है। नारी के प्रति स्वस्थ और जनवादी दृष्टिकोण के उदय और निर्माण के लिये हमें मजदूर-नैतिकता के मूल्यों को समझना जरूरी है। पर प्रश्न उठता है—आखिर ये मूल्य क्या हैं ? और जैसा कि पहिले कहा जा चुका है मजदूर वर्ग ने पुराने नैतिक मूल्यों को तो च्युत कर दिया पर उनके स्थान पर वह नैतिकता के अभिनव सिद्धांतों की स्थापना, नूतन मूल्यों की सृष्टि वह नहीं कर सका। कारण प्रजातन्त्र की संस्था उसके हाथों से निकल चुकी थी—और जिन श्रम चोरों के हाथ में वह पहुँच चुकी है वे आज भी इस नवीन सृजन को नहीं चाहते हैं, उसमें असमर्थ तो वे हैं ही—उनकी विश्रृंखलता में ही उनकी गति है।

पर यह परिस्थिति का एक पहलू है। एक पहलू वह भी है जहाँ साहित्य में सामाजिक प्रेम का उदय हो रहा है।

आखिर इस सामाजिक प्रेम का स्वरूप क्या है ? साहित्य में हम मजदूर नैतिकता से प्रभावित सोशल रोमांस की मांग करते हैं। उसका स्वरूप क्या हो ? जब तक हम उसके काल्पनिक रूप को ध्यान में रखेंगे हमारे पास सोशल रोमांस शब्द के सिवा कुछ नहीं रहेगा। पर हमें उसके वास्तविक ढाँचे को जानना है। उसके न केवल निषेधात्मक पहलू का वरन् विधेयक रूप को भी समझना है। सामाजिक प्रेम की चर्चा में लोग उसके निषेधात्मक पहलू को तो खूब उभार देते हैं—पर उसके विधेयक स्वरूप के सम्बन्ध में पाये जाने वाला अज्ञान या जानकारी का अभाव कदापि स्पृहणीय नहीं है। प्रेम का यह अभिनव स्वरूप जहाँ एक ओर वासना, शारीरिक भूख और निरी रूपलिप्सा पर आधारित न होकर इन्द्रिय परायणता से दूर है वहीं वह एक गहरे साहचर्य से उदित सम्बन्ध भावना से परिपोषित तथा पारस्परिक सहयोग रागात्मक रूप से दीप्त होता है। उसकी रागजन्यता एक विराट सामाजिक ध्येय की भावना से अनुप्राणित होती है।

हिन्दी काव्य में केदारनाथ, गिरजाकुमार तथा त्रिलोचन की कविताओं में हमें प्रेम की इस चेतना के दर्शन होते हैं। त्रिलोचन के काव्य में प्रेम की रवानी पारस्परिक संयुक्तश्रम के प्रतिफल की सम्बन्ध-भावना से परिचालित है। जीवन संघर्ष में तपकर कुन्दन की तरह निखरने वाला प्रेम जिसमें इन्द्रिय तृप्ति की नहीं वरन् विराट सामाजिक जीवन की लालसा है—वह जीवनेच्छा की उस भावना को साथ लेकर चलता है जो विराट मनुष्यता के जीवन निर्माण के लिये संघर्ष करना जानती है जो समाज से कटकर किसी के पाँव अपनी गोद में रखने की या किसी के नयन के पाटल चूमने की हीन-भावना से मुक्त है।

सामाजिक प्रेम का यह स्पृहणीय रूप हमारे साहित्य में सबसे पहिले आ रहा है। भावुक कवि पौधों से प्रेम करते हुए कहता है:

मैंने जोता तुमने बोया
इन परम सलोने पौधों को
दोनों ने मिल कर बड़ा किया
जिनको नहलाते हैं बादल

निश्चय ही इन पौधों से कवि का प्यार—उसकी सम्बन्ध भावना के लिए प्रधानता की उद्भूति हृदय के रागात्मक तत्व को जाग्रत किये बिना नहीं रहती। उसका प्रेम सृष्टि के लिये—सारे समाज के लिये कितना फलप्रद—कितना सौहार्द, उल्लास तथा जीवनदान की भावना से पूर्ण है—तभी तो उन पौधों को बादल नहला रहे हैं। कवि के प्रेम का प्रतिफल समाज के लिये मांगलिक वरदान है।

श्रमिकवर्ग की इस चेतना ने साहित्य के वस्तु विधान में इन भीतरी परिवर्तनों के साथ नवस्थापित तत्त्वों में जो सूत्र पिरोया वह आशावाद का है। इसे केवल आशावाद न कहकर दृढ़ आस्था कहना अधिक समीचीन होगा। आज का जागरूक लेखक निराशा और पलायन की कुहेलिका से तो वापिस लौट ही आया है—उसमें अपनी जीत के प्रति, वर्गहीन समाज रचना के प्रति समाजवाद के महान् सिद्धांत के प्रति एक गहरी आस्था उत्पन्न हो गई है। इस गहरी आस्था का कारण यही है कि आज के साहित्यकार ने.........

इस दृढ़ आस्था ने उसमें एक अद्भुत आत्मविश्वास, कर्मशक्ति और संघर्ष की भावना उत्पन्न की है। वह शोषण की बुनियाद पर आधारित इस संसार को बदलने के लिये निर्भय होकर संघर्ष कर रहा है:

मैं निर्भय संघर्ष निरत हो।
बदल रहा संसार तुम्हारा ॥

साहित्य वैसे तो युग की चेतना से परे कभी रहता ही नहीं—पर युग समस्याओं से उसका जितना लगाव आज के युग में हुआ और हो रहा है—उतना आज से पूर्ववर्ती इतिहास में कहीं रहा है—ऐसा देखने को नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि आज का साहित्यकार जनता के रोजमर्रा के जीवन से निकट का गहरा सम्बन्ध रखता है। इसलिये युग की सामयिकता साहित्य में अपने यथार्थ और प्रांजल रूप में प्रतिबिम्बित होती है। आधुनिक साहित्य का एक बड़ा भाग युग का इतिहास बनाने वाली घटनाओं से सम्बन्धित है। सोवियत पर फासिस्त आक्रमण के समय सारे विश्व की सभी भाषाओं के साहित्यकारों की कृतियों में फासिस्तविरोधी भावना अत्यन्त तीव्र रूप से अभिव्यंजित हुई थी। गांधीजी की मृत्यु ने विश्व के सभी साहित्यकारों के हृदयों को समान रूप से झकझोरा। सभी देशों के महान् लेखकों ने अपनी श्रद्धा को शब्दों में बाँधा। शान्ति के संघर्ष में आज विश्व सभी महान् साहित्यकार समान रूप से भाग ले रहे हैं। साहित्य का यह घटनापरक रूप आधुनिक साहित्यकार की विकसित चेतना, क्रियाशक्ति तथा युगदर्शन की व्यापक संवेदनशीलता का परिचायक है।

साहित्य के इस घटनापरक रूप का विरोध करते हुए कुछ समीक्षकों का मत है कि इस प्रकार का साहित्य सामयिकता से बंधा होने के कारण क्षणजीवी और अस्थाई होता है। किन्तु यह कथन अपनी कोई तात्विक संगति नहीं रखता। क्योंकि साहित्य के क्षणजीवी या स्थाई होने का आधार उसकी कथावस्तु का सामयिक या असामयिक होना नहीं है—वरन् उसमें पाई जाने वाली संवेदना का स्तर, उसके कलात्मक गुण तथा उसकी सामाजिक चेतना ही उसका नियोजन करती है।

साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध अधिक प्रगाढ़ और दृढ़ हुआ। क्योंकि वर्गचेतना के वर्गगत स्वरूप से प्रभावित साहित्यकार राजनीति के वर्गगत स्वरूप से प्रभावित न हो यह कैसे सम्भव हो सकता है।

...

साहित्य समाज के उच्चवर्गीय लोगों की सम्पत्ति नहीं है। एक युग था जब साहित्य में निम्न वर्ग का चित्रण हेय समझा जाता था। महाकाव्य और रूपकों के नायक उच्चकुलोत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापवान नायक ही हुआ

करते थे। सारी कथा इसी सामन्त या अभिजात्य के जीवन और उसके विविध रूपों से संगठित होती थी। कलाकृति (महाकाव्य या रूपक) का लक्ष्य इसी नायक की फलसिद्धि होती थी। भारतीय वाङ्मय में तो इन अभिजात्यों ने जनता की भाषा बोलने से भी इन्कार कर दिया था। पर नवयुग के साहित्यकार की दृष्टि बदली। उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति की भावना का उदय हुआ जिसका पर्यवसान चिर उपेक्षित और दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति में हुआ।

आधुनिक साहित्य से अभिजात्य वर्ग का बुरी तरह निष्कासन हो रहा है। साहित्य-मन्दिर की पुरानी प्रतिमायें टूट रही हैं और उनके स्थान पर जनता जनार्दन की स्थापना हो रही है।

जैसा कि पहिले कहा गया आधुनिक समाज वर्गों का समाज है। सामाजिक जीवन में वर्गों की स्थिति स्पष्ट होती जा रही है। शोषक पूंजीपति और पीड़ित जनता जिसका कि नेतृत्व मजदूर वर्ग के हाथ में है, इन दो वर्गों में सारा समाज बँट गया है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था से जो वैषम्य उत्पन्न हो गये हैं, जिस विभीषिका ने जन्म ग्रहण किया है, समाज के निचले और ऊँचे वर्गों के बीच जो अन्तर उत्पन्न हो गया है उसने सहृदय साहित्यकार को बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है। शोषण पर आधारित पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के घातक और घिनौने स्वरूप को अनावृत्त करने के लिये वह बेकल हो गया है। हिन्दी कविता में दोनों वर्गों को सम्मुख रख कर बड़े 'कण्ट्रास्ट' दिखाते हुए वर्गगत चित्रण बड़ी मात्रा में हुआ है।

साहित्य का वह भाग जिसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मजदूर-वर्ग प्रभावित कर रहा है, नवीन प्रकाश की भावनाओं से दीप्त है। जब कि साहित्य की वे धारायें जो कि पतनोन्मुख पूंजीवाद से प्रभावित है, अपने आगे सिवा अन्धकार के कुछ नहीं देखतीं। फलतः आज उनके साहित्य में अंधकार, मृत्यु, आत्महत्या और स्वरति की भावनाओं का बोलबाला है, जब कि मजदूर वर्ग का साहित्य एक नये कर्मयुग की शुरूआत कर रहा है।

साहित्य के अन्तरंग में हुये इन विराट् परिवर्त्तनों से उसके वहिरंग का रूप भी बदला। व्यक्ति-पूजा का युग समाप्त हो रहा है। नवयुग का मानव समष्टि का आराधक है। नवयुग का यह उषःकाल ऋचाओं से तो पल्लवित है, पर महाकाव्य का युग जैसे समाप्त हो रहा है। यह नहीं कि महाकाव्य लिखे नहीं जा रहे हैं। कवि दिनकर तो आज भी सफलता से उसका निर्वाह

कर रहे हैं। फिर भी लम्बी कविता का युग प्रायः समाप्ति पर ही समझना चाहिये। जो महाकाव्य वर्त्तमान काल में लिखे गये हैं, वे भी महाकाव्य के पुराने ढाँचे को तोड़ कर आगे बढ़े हैं। इस विकास की कथा काफी जानी-पहचानी है और पुनरावृत्ति की अपेक्षा नहीं रखती।

यंत्रयुग का हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उसके प्रवेश के साथ ही हमारे जीवन में कई नई परिस्थितियों का निर्माण हुआ है। ये नवोद्भूत वास्तविकतायें (परिस्थितियाँ) जीवन के क्षेत्र में एक साथ नवीन हैं। कवि जब इन नवीन वास्तविकताओं के सम्पर्क में आता है तो उसका हृदय एक नये प्रकार की संवेदनाओं से भर जाता है। कवि इन्हें अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। पर काव्य का पुराना परिधान अपेक्षाकृत इस नई वास्तविकता को वाणी देने में असमर्थ रहता है। अतः साहित्यकार को एतदर्थ अभिव्यक्ति के नूतन प्रकारों की कल्पना करनी पड़ती है। काव्य परिधान को नवीन वास्तविकताओं की अभिव्यंजना में सक्षम बनाने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। साहित्यकार की यही चेष्टा प्रायोगिक काव्य को जन्म देती है, जिसके पीछे प्रायोगिक वास्तविकता का आग्रह स्पष्ट है। अस्तु, प्रयोगशील काव्य का वास्तविक आधार प्रायोगिक वास्तविकता ही है। अतः प्रयोगशील काव्य को केवल मात्र शैली का ही एक आन्दोलन मानना सचाई से इन्कार करना है, उसके पीछे की प्रेरक वास्तविकता से, सचाई से आँखें मूँदना है; जैसा श्री शिवदानसिंह चौहान ने उसे केवल प्रतीकवादी धारा कह कर किया है। हाँ, दुर्भाग्य यह रहा कि इस प्रकार के नवीन साहित्य का सम्बन्ध कुछ ऐसे महारथियों से जुड़ गया जो अपनी प्रतियोगिता के लिए काफी कीर्ति अर्जित कर चुके थे।

काव्य-परिधान में होने वाले प्रयोगों में अलंकार योजना में पुराने उपमानों के स्थान पर उन नवीन उपमानों की योजना की गई जो अभिप्रेत भावना को वहन करने में प्रभविष्णुता उत्पन्न करने में अधिक सक्षम थे, जिनमें पुराने उपमानों की अपेक्षा चमत्कार सृष्टि की अधिक शक्ति थी। इसका कारण यही है कि पुराने जीवन से लिये गये उपमानों का हमारे वर्त्तमान जीवन से कोई गूढ़, भीतरी और निकट का सम्बन्ध नहीं रह गया है। वे आज चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रखते। वे प्रभावहीन हो चुके हैं, उनकी प्रतियोगिता नाममात्र की है। इसीलिए आधुनिक कवि सचेष्ट रूप से काव्य के पुराने ढांचे को बदल रहा है।

प्रश्न उठ सकता है कि उपमानों की नई योजना और मज़दूर वर्ग का क्या सम्बन्ध है ? इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि उपमानों की नई योजना कवि-गण प्रत्येक युग में करते आये होंगे। अलंकार-शास्त्र का विकास इसका साक्षी है। परन्तु कुछ ऐसे उपमान हैं जो साहित्य के लिए नये ही नहीं वरन् विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों की उद्भूति होने के कारण काव्य-परिधान के विकास के ऐतिहासिक मार्गचिह्न हैं । हिन्दी में गिरजा-कुमार माथुर ने इस दृष्टि से बड़े ही सशक्त उपमानों की योजना की है।

आधुनिक कविता में दूसरे जिस क्रान्तिकारी तत्त्व की संयोजना हुई है, वह है उसका लय के आधार पर प्रतिष्ठित होना । 'छंद' काव्य की लय का ही शास्त्रीय रूप है। पर छंद शास्त्रीय रूप से काव्य इसलिए बँधता है, क्योंकि वह लय की स्वाभाविक गति से नहीं चल पाता और फलस्वरूप कुछ निश्चित नियमों को निभा कर, काव्य को छंद में बाँध कर लय की साधना करता है। काव्य का सही और वैज्ञानिक आधार लय ही है। हिन्दी कवि ने काव्य के इस वास्तविक आधार को पहिचान कर लय की साधना की है और कविता के वैज्ञानिक स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। मुक्त छंद जिसका प्रारम्भ मध्यवर्ग की अराजकतावादी भावना थी, आज हिन्दी कवि को लय की साधना की प्रेरणा दे रहा है। कुछ नये छन्दों का निर्माण भी हुआ है, जो महत्त्व की वस्तु है ।

इसके साथ सामूहिक गीतों की भावना ने ज़ोर पकड़ा । युग-चेतना ने कवियों को 'जनगीत' और 'कोरस' लिखने को प्रेरित किया । 'कोरस' का सामूहिक गान नवयुग की उस परिवर्तित चेतना का प्रतीक है, जिसमें मनुष्य अपनी व्यक्ति केन्द्रिकता के आवरण को फाड़ कर विशाल समष्टि में अपने को मिला देने के लिए आतुर है।

शैली में कुछ खास तीखेपन का समावेश हुआ—वह स्पष्ट है। दुश्मन पर निर्ममता से आक्रमण करने वाली तीखी और व्यंग्यात्मक शैली का प्रादुर्भाव इस युग में हुआ। नागार्जुन और कृष्णचन्द्र में व्यंग्य करने की एक अद्भुत शक्ति वर्त्तमान है। यह तीखापन बहुत कुछ तो राजनीति से प्रभावित है, क्योंकि साहित्य और राजनीति जितने इस युग में करीब आये हैं उतने अन्य किसी युग में नहीं।

मज़दूर-वर्ग अपने हितों के लिए सर्वाधिक जागरूक और संघर्षशील वर्ग है। उसका संघर्ष दिनों-दिन तेज़ी पकड़ता जा रहा है। इस लड़ाई में साहित्य-कार भी अपना पूरा योग दे रहा है । वह भी मोर्चे पर संघर्ष-निरत है।

रिपोर्ताज इस संघर्षनिरत साहित्यकार की अभिव्यक्ति का सबसे शक्तिशाली साधन है। उसकी लड़ाई का मारु हथियार है। इसका विकास सोवियत और यूरोप के साहित्य में पहले हो चुका है। युद्ध-काल में सोवियत लेखकों के द्वारा लिखे गये रिपोर्ताज बहुत प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में भी इस अंग का विकास हुआ है। रांगेय राघव का "यह ग्वालियर है" और कृष्णचन्द्र का "सुबह होती है" हिन्दी के प्रसिद्ध रिपोर्ताजों में से है।

समाज के इस संघर्षशील वर्ग ने युगीन चेतना को आन्दोलित कर दिया है। युग का यथार्थदर्शी साहित्यकार उसके इस महान् स्वरूप को पहिचान चुका है। वह उसके गरिमामय भविष्य को भी जानता है। उसके हृदय में श्रमिक के प्रति एक महान् गौरव की भावना स्फुरित हुई है, तभी तो वह सूर्य को आदि श्रमिक कह उठा है। हम (हमारा समाज) परिवर्त्तनों के दौर से गुज़र रहे हैं। मनुष्यता अपने जीवन-मरण का संघर्ष कर रही है। इस संघर्ष का नेतृत्व श्रमिक वर्ग के हाथों है। इस संघर्ष का एकमात्र ध्येय है समाज की श्रम के आधार पर प्रतिष्ठा करना। समाज में श्रम और श्रमिक के प्रति आदर और सम्मान की भावना जाग्रत करना, ताकि वर्गहीन समाज की रचना की जा सके। मनुष्य के द्वारा होने वाले मनुष्य के शोषण का सदैव के लिए अन्त किया जा सके।

काव्यगत सत्य और अज्ञेय

हिन्दी कविता के भाग्य को प्रयोगशील या प्रयोगवादी कहलाने का श्रेय अज्ञेय जी को है। किसी भी साहित्यिक धारा को वाद की संज्ञा तभी दी जाती है जब वह किसी सिद्धान्त विशेष के प्रति अपना आग्रह प्रकट करें। अज्ञेय जी प्रयोगवाद को कोई वाद नहीं मानते। किन्तु उसके पीछे उनका सिद्धान्त का आग्रह अवश्य है। वे जिन्हें प्रयोगशील कवि कहते हैं चाहे वे तार सप्तक के हों या दूसरे सप्तक के, उनके संगठित होने का आधार अवश्य ही कोई सिद्धांत है। पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी की तरह केवल तर्क न्याय से निष्कर्ष न निकाल कर भी यदि विचार किया जाये तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि इन कवियों में कई मूलभूत सैद्धान्तिक एकता विद्यमान है।

अज्ञेय के अनुसार इन कवियों के संगठित होने का मूल आधार काव्य के सत्य का अन्वेषण करना है। ये सभी कवि ऐसे हैं जिनका कि यह मत है कि कविता प्रयोग का विषय है, तथा काव्य का सत्य जिन्होंने अभी नहीं पाया है परन्तु वे उसके अन्वेषी अवश्य हैं :

'संग्रहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।' ('तारसप्तक की भूमिका')

इस कथन से तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

१. ये कविगण कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं।
२. ये दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है।
३. ये अपने आपको अन्वेषी मानते हैं।

प्रथम स्थापना पर विचार करने पर ज्ञात होगा कि प्रयोगवादी कविता को प्रयोग का विषय मानता है। दूसरे शब्दों में अधिक स्पष्टता के साथ कहें तो प्रयोगवादी कविता को प्रयोग के लिये मानता है। कविता जीवन की अभिव्यक्ति है। वह जीवन के लिये है। प्रयोग का अर्थ यदि व्यापक रूप में लिया जाये तो होगा भावविधान तथा रचनाविधान में नवीनता। अस्तु, इस प्रकार प्रयोग शैली के निखार की एक प्रक्रिया ही है। यह शैली, यह नवीनता, कविता में अभिव्यंजित हो सकती है। यह सब कविता के लिये हैं।

किन्तु कविता इनके लिये है, यह कथन असंगत है। साथ ही कविता सौंदर्यानुभूति की अभिव्यक्ति है। अस्तु, अभिव्यक्ति अनुभूति के लिये है। कविता का सर्वप्रथम ध्येय है मानवीय—सौन्दर्यचेतना का कलाकार के माध्यम से अभिव्यंजन। अस्तु, वह जीवन का विषय है। जीवन की प्राण-चेतना का स्पंदन उसमें आवश्यक है। प्रयोगवादी कवि ने इसे उलट कर कविता को प्रयोग का विषय माना है। अतः उसकी प्रथम स्थापना से ही कविता अपने मूल ध्येय से च्युत हो जाती है। कविता के निखार एवं उसकी अभिव्यंजना शक्ति को सँवारने के लिये प्रयोग किए जा सकते हैं। अतः 'प्रयोग' कविता का विषय हो सकते हैं, और यही सही क्रम है। न इससे कोई इन्कार ही कर सकता है। किन्तु 'प्रयोग' में जीवन का जो अंश है वहीं तक कविता सीमित नहीं हो सकती। उसका क्षेत्र समग्र जीवन है। कविता में केवल प्रयोग के अतिरिक्त भी बहुत कुछ रह सकता है।

अज्ञेय के चरम व्यक्तिवाद का विस्फोट देखिये:

'किन्तु इससे (सहयोग से) यह परिणाम न निकाला जाए कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि हैं, या कि साहित्य-जगत के किसी एक गुट्ट अथवा दल के सदस्य अथवा समर्थक हैं। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, अभी राही हैं, राही नहीं, राहों के अन्वेषी।'

सैद्धांतिक दृष्टि से यह घृणित व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसी प्रकार और आगे भी अज्ञेय ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं:

"उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है। जीवन के विषय में, काव्यवस्तु और शैली के, छंद और तुक के कवि के दायित्वों के, प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे समान रूप से स्वीकार नहीं करते, जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगों का समाजीकरण, यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई, अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि।"

विचार करने पर यह स्पष्ट होने में कठिनता नहीं होगी कि श्री अज्ञेय ने एक अर्से तक बहुत गलत उपयोग किया है। अन्यथा सभी संग्रहीत कवियों के विषय में इस प्रकार का फतवा नहीं देते, क्योंकि संग्रहीत कवियों ने स्वयं

के विषय में जो वक्तव्य दिये हैं उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमें से अधिकांश अपने विचारों में एक दूसरे के बहुत निकट हैं । अज्ञेय चाहे उन्हें एक स्कूल के न माने परन्तु जीवन, राजनीति, सामाजिक उत्तरदायित्व सभी के सम्बन्ध में उनके विचारों में बड़ा सामञ्जस्य दिखाई देता है । रामविलास, नेमिचन्द्र, गिरजाकुमार, माचवे, भारतभूषण, मुक्तिबोध आदि प्रथम सप्तक के सभी लोग निश्चय ही एक विशिष्ट जीवन-दर्शन के मानने वाले है । पर अज्ञेय जी की तो बात ही और है, उन्हें आत्माभिव्यक्ति करना है सो करें । मजे की बात तो यह है कि अज्ञेय ने अपने स्वयम् के (जिन्हें वे जगत के कहते हैं) स्वयम्-सिद्ध मौलिक सत्यों में काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता को जोड़ कर सत्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का दरवाजा खोल दिया है । मान लीजिए कि काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता सत्य है । परन्तु इस मौलिक से क्या तात्पर्य है ? अच्छा होता यदि अज्ञेय सत्य के मौलिक तथा अमौलिक स्वरूपों की व्याख्या करते । सच तो यह है कि अज्ञेय शब्दों के पाठक को शब्दों के जंजाल में उलझा रखना चाहते हैं। इसी-लिए वे शब्दों के ऐसे निरर्थक तथा ऐकान्तिक प्रयोग करते हैं । क्योंकि यही 'मौलिक' शब्द आगे फिर अज्ञेय द्वारा कवि-कर्म की (मौलिक) समस्या के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

अज्ञेय की इस उलझनभरी अभिव्यक्ति, जोकि वास्तव में उलझन नहीं है वरन् जिसके द्वारा वे अन्य व्यक्तियों को उलझन में डालकर पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करना चाहते हैं ।

यहाँ प्रयोगशीलता की कसौटी पर भी कुछ विचार करना आवश्यक होगा । अज्ञेय ने लिखा है :

'इसका अभिप्राय यह नहीं कि······केवल यही कवि प्रयोगशील हैं और बाक़ी सब घास छीलने वाले । वैसा दावा कदापि नहीं हैं ।'

इस कथन से स्पष्ट है कि अज्ञेय का यह दावा कदापि नहीं है कि वे तार सप्तक प्रथम या द्वितीय भी कह सकते हैं कि—में संग्रहीत कवि भी मात्र प्रयोगशीलता को काव्य में ला रहे है,—या केवल उन्होंने काव्य-विन्यास और रचना-विधान में प्रयोग किया है ।

अतः कविता प्रयोग के लिये ही नहीं हो सकती । यह काव्य के सम्बन्ध में एक भ्रामक दृष्टिकोण है ।

क्योंकि समस्या स्पष्ट है। साधारणतः परिस्थितियों के बदल जाने से काव्य के भावविधान एवम् रचना-विधान में नवीनता का तो समावेश होता ही है, यह अनिवार्य भी है और प्रगति का परिचायक भी। अस्तु, जब स्वभावतया ही काव्य में नवीनता का प्रवेश होता है तो फिर पृथक् रूप से कविता को प्रयोग का विषय मानने से क्या अर्थ निकलता है ? स्पष्ट है प्रयोगवादी कवि स्वाभाविकता को दूर रखकर बौद्धिक रूप से 'प्रयोग' के नाम पर चमत्कार लाना चाहता है। साथ ही इसी कारण जैसा कि अभी कहा है कि कविता अपने प्रथम ध्येय से गिर गई है।

दूसरी बात है कि ये कवि दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है। काव्य का सत्य क्या है ? इस लक्ष्य पर बाद में विचार किया जावेगा परन्तु यह कथन अपने में एक बड़ा भ्रम लिये हुए है। यह कथन ठीक नाथों और अवधूतों की वाणी के समान के ढंग का है जो कहते हैं कि हम दावा तो नहीं करते कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है किन्तु खोजी जरूर है, रमते राम हैं और 'जिन खोजा तिन पाइयाँ'। अज्ञेय कथित काव्यगत सत्य भी ब्रह्म की तरह ही है। इसे स्पष्ट करने की अज्ञेयजी ने कृपा नहीं की। फिर यह काव्यगत सत्य है—क्या यह भी विचारणीय है। वस्तुतः काव्य का सत्य कोई स्थिर वस्तु नहीं है। उसका सम्बन्ध कविता की व्याख्या से है। और कविता की व्याख्या के अनुसार ही उसके सत्य का स्वरूप निर्धारित होता है। और चूंकि दुनिया की परिवर्तनशीलता कविता की एक व्याख्या रहने नहीं देती। जगत में परिवर्तन होते हैं और फलस्वरूप जीवन के सौंदर्य सम्बन्धी मानों में भी परिवर्तन होता है। कविता, चित्रकला आदि सभी ललित कलाओं में भी। और इस प्रकार काव्य की नित्य नूतन व्याख्या होती है और काव्यगत सत्य का स्वरूप भी नित्य ही परिवर्तित होता रहता है। वह एक स्थिर सत्य नहीं वरन् गतिशील सत्य है। अस्तु, काव्यगत सत्य को पाने के लिये जीवन की गतिशीलता से हमें सम्बन्ध जोड़ना होगा जहाँ से कि काव्य और उसका सत्य उद्भूत होता है कि काव्य को प्रयोग का विषय बनाकर उसके ध्येय से च्युत करने से।

सिद्धान्त की तीसरी मूल बात है कि ये कवि अन्वेषी हैं। ये दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने खोज निकाला है। अतः ये उसे खोजने में संलग्न हैं। इस सिद्धान्त और दूसरे सिद्धांत का कार्य-कारण सम्बन्ध है।

काव्यगत सत्य के नकली आवरण के हट जाने के बाद इनका अन्वेषण कोई तात्विक अर्थ नहीं रखता। जबकि काव्यगत सत्य का कोई स्थिर स्वरूप नहीं तो फिर अन्वेषण कैसा ? और जीवन से पृथक् इस सत्य का अस्तित्व क्या ? फिर तो वही मिसाल चरितार्थ हुई कि बिना साँप के ही जमीन पर ही लाठियाँ पटकी जा रही हैं। स्पष्ट है कि यह सिद्धांत एक बहकावा मात्र है। लेखक को सामाजिक उत्तरदायित्व से दूर करने का सचेतन प्रयत्न। इसीलिये कुछ कवि दुनिया से आँखें मूँदकर, काव्य की सामाजिक उपयोगिता से इन्कार कर, कविता को अपने मन की उलझन की प्रयोगशाला बनाने पर तुले हुए हैं। इसमें इनका पलायनवादी स्वर ही उभरा है जो अब काव्यगत सत्य को ढूँढने का हवाई तथा अस्पष्ट नारा देकर सचेतन रूप से अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से मुँह चुराता है। व्यक्तिवाद की यह चरम परिणति है। जबकि संघर्ष का दौर बढ़ता है, प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ जन-आंदोलन को रोकने के लिये, बढ़ते हुए वर्ग-संघर्ष को पीछे ठेलने के लिये लेखकों को इसी प्रकार प्रयोगशाला में बिठाकर नपुंसक बनाने पर तुल जाते हैं।

फिर ठीक यही सप्तक क्यों तैयार हुआ, इसका उत्तर अज्ञेय देते हैं :

'ठीक यही सप्तक क्यों तैयार हुआ इसका उत्तर यह है कि परिचित और सहकार योजना ने इसे ही सम्भव बनाया। इस नाते तीन-चार और नाम भी सामने आते थे, पर उनमें वह प्रयोगशीलता नहीं थी जिसे कसौटी मान लिया गया था।'

किन्तु चार पंक्तियों के बाद स्वयं अज्ञेय अपनी इस बात का विरोध करते दिखाई देते हैं :

'सभी 'सप्तक के कवि' इसके लिये तैयार हैं कि अभी कसौटी हो; क्योंकि सभी अभी उस परम तत्व की शोध में लगे हैं जिसे पा लेने पर कसौटी की जरूरत नहीं रहती, बल्कि जो कसौटी की ही कसौटी हो जाती है।'

प्रश्न उठता है कि जब अज्ञेय जी के पास कसौटी का अभाव है तो फिर वह कसौटी कौनसी थी जिस पर चार पंक्तियों पहिले अज्ञेय ने तीन-चार कवियों को खोटा सिद्ध किया ?

'उनमें वह प्रयोगशीलता नहीं थी जिसे कसौटी मान लिया गया था।'

इससे यह स्पष्ट है कि यह अज्ञेयजी के उलझनभरे मन की (जैसा कि उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा है)—उधेड़-बुन है। और इसीलिये उनके कथन में पारस्परिक असंगतियाँ, विरोध तथा उलझन मौजूद हैं।

इस प्रकार की विरोधी मान्यताओं के प्रतिपादन की एक सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। वस्तुतः भारत के पूंजीपति-वर्ग का यह ग़लत प्रयोग रहा। प्रयोगवाद पूंजीवाद के पतन-काल की एक साहित्यिक धारा है जिसका विश्लेषण आगे होगा। भारत में, प्रगतिवाद का विरोध करने के लिये भारत के रुग्ण पूंजीवाद को, जो कि साम्राज्यवाद की छाया में मौत से तड़पते टी० बी० के मरीज़ की तरह आगे बढ़ा है, कोई चारा न दीखा तो उसने पश्चिम के पूंजीवाद के पतनकालीन धारा को ही प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। पूंजीवाद जब समाप्त होने लगता है तो इसी प्रकार की विक्षिप्तता को जन्म देता है। जिसमें कि मानसिक निराशा, पराजय, साहित्यिक अभिजात्य और अंधकार की भावना उत्पन्न होती है। परन्तु यह एक ग़लत क़दम था। इन दिनों भारत में पूंजीवाद पतन की स्थिति में नहीं था वरन् उसके विकास के चरण और भी दृढ़ हो रहे थे या हैं। अतः जनता तक पहुँचने की तो बात ही नहीं थी, इस कथित प्रयोगवाद का साहित्य के क्षेत्र में भी पर्याप्त आदर नहीं हुआ।

प्रयोगवाद : पृष्ठभूमि और परिणति

प्रयोगवाद हिन्दी काव्य की नवीनतम प्रवृत्ति है। अभी तक इसका अपेक्षित विश्लेषण नहीं हो सका है, यह हिन्दी आलोचना की सबसे बड़ी दुर्बलता है। प्रयोगवाद क्या है? और आज तक के महान् साहित्यिकों के प्रयोग क्या हैं—इसमें अन्तर करने के पहले इस आधुनिक प्रयोगवाद के विकास और उसकी पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है।

सन् १९४३ में 'तार सप्तक' नामक एक काव्य-संग्रह का प्रकाशन श्री अज्ञेय के सम्पादकत्व में हुआ। इस संग्रह में हिन्दी के सात कवियों की रचनाएँ संग्रहीत हुईं। ये कवि हैं सर्वश्री गजानन माधव मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन और स्वयं अज्ञेय। 'प्रयोग' इसके पहिले के साहित्य में (याने छायावाद, द्विवेदी-युग अथवा सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के ९०० वर्ष के इतिहास में) कई हुए हैं। किन्तु उन 'प्रयोगों' में और इस प्रयोगवाद में तात्त्विक भेद है, जिसका स्पष्टीकरण आगे होगा। यहाँ हमें प्रयोगवाद की उस साहित्यिक और सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार करना है जिसमें कि नूतन काव्यधारा ने सैद्धान्तिक स्वरूप ग्रहण किया।

सन् १९३६-३७ में छायावाद का पतन हुआ और युगीन चेतना ने प्रगतिवाद का रूप ग्रहण किया। यह एक सबसे बड़ी आश्चर्य की बात है कि छायावाद का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ (जिसमें छायावाद का भावविधान, दर्शन तथा शिल्प अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था)—१९३८ में प्रकाशित हुआ। और वह भी इतने ऊँचे शिखर पर पहुँचे हुए छायावाद के पतन को रोकने में अक्षम सिद्ध हुआ। इसका कारण युग की वे सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ थीं, आलोचकों द्वारा जो इस कला के ताजमहल को भूरि-भूरि प्रशंसित होने पर भी जड़-मूल से उखाड़ देने पर तुली थीं। फलतः कामायनी की अर्द्ध-सामन्ती दर्शन युग की उठती हुई जनभावना को नहीं रोक सका और प्रगतिवाद का आन्दोलन ज़ोरों से तेज़ी पकड़ता गया। प्रगतिवाद का सम्बन्ध जनता के संघर्ष से रहा और मानवता के लिए होने वाले महान् संघर्ष को प्रतिफलित करने में प्रगतिवाद ने अपनी सारी शक्ति लगादी।

वस्तुतः प्रगतिवाद और छायावाद दो साहित्यिक 'वाद' मात्र नहीं हैं,

वरन् उनका एक सामाजिक आधार है, जिसने कि प्रयोगवाद नाम की इस नई धारा को जन्म दिया।

छायावाद हिन्दी काव्य की एक अस्वस्थ एवं रुग्ण चिन्ताधारा थी जिसके मूल में भारतीय पूंजीवाद का अस्वाभाविक विकास है। पूंजीवाद का प्रवेश जब भारत में हुआ उस समय भारत में पश्चिमी साम्राज्यवाद हावी था। पश्चिम की इस साम्राज्यवादी सरकार की छाया में ही भारतीय पूंजीवाद का विकास हुआ। पूंजीवाद यंत्रयुग की देन है, अपने में एक महान् क्रान्तिकारी प्रयोग है। वह समाज के जीवन में प्रवेश करते ही पुराने सामन्ती उत्पादन के सम्बन्धों को नष्ट करता है और सामन्तवाद की निरंकुशता को समाप्त कर बुर्जुआई प्रतिनिधि-तन्त्र की स्थापना करता है, जिसमें जनता को एक सीमा तक कई राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु खेद है कि भारत का पूंजीवाद यह सब कुछ नहीं कर सका। भारत की साम्राज्यवादी सरकार ने एक ओर तो पूंजीवाद के होते हुए विकास को रोका और दूसरी ओर सामन्तवाद के उपकरण—ज़मींदार, जागीरदार, राजा, नवाब और पंडे-पुजारियों का भी संरक्षण किया। फलस्वरूप भारत का उठता हुआ पूंजीवाद सामन्तवाद के जर्जर ढाँचे पर चोट नहीं कर सका, उल्टा उसका सामन्तवाद से सम्बन्ध स्थापित हो गया। बहुत-से सामन्तों ने भी देश के उद्योग-धन्धों में अपनी पूंजी लगाई। परन्तु यह सब स्वाभाविकता से दूर था। फलतः अपनी अर्द्धविकसित (विकास की) अवस्था में ही भारत के पूंजीवाद ने कई अन्तर्विरोधों को जन्म दिया और राष्ट्रीय आन्दोलनों की असफलता ने उन अन्तर्विरोधों को सामाजिक स्वास्थ्य के लिए घातक मानसिक क्षय के रूप में बदल दिया। छायावाद इसी मानसिक क्षय की अभिव्यंजना है। किन्तु भारतीय जीवन में सर्वसाधारण, आम जनता में बेकारी और भुखमरी की समस्या बढ़ती जा रही थी। रूस की समाजवादी क्रान्ति से भारतीय जीवन में हलचल मच गई थी। फलस्वरूप १९२७ में देश में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई, जिसने भारत के जनसंघर्ष को एक हद तक आगे बढ़ाया। १९३२ में कांग्रेस में भारतीय समाजवादी दल की स्थापना हुई, जिसने कांग्रेस में रह कर ही कार्य करना उपयुक्त समझा। पूंजीवाद के फलस्वरूप भारत के जीवन में एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ, जो जनक्रान्ति का अगुआ वर्ग है, यह वर्ग है सर्वहारा वर्ग। इसी वर्ग की उपस्थिति ने प्रगतिवाद को जन्म दिया। सामाजिक जीवन में मजदूर वर्ग और पूंजीपति में इन दिनों टक्कर होना प्रारम्भ हो गई थी। पूंजीवाद की वर्गगत शोषण की प्रणाली ने भारतीय जीवन

में वर्गसंघर्ष को तीव्र रूप में उपस्थित किया। अब समाज में दो वर्ग स्पष्ट रूप से नजर आने लगे थे—१. शोषित, जिसमें सर्वसाधारण जनता, मजदूर, किसान और मध्यम वर्ग है और २. शोषक—जिसमें पूंजीपति, जागीरदार और जमींदार हैं। साहित्य के क्षेत्र में छायावाद का पतन हो चुका था जो एक अर्से तक पूंजीवाद की क्षयग्रस्तता की अभिव्यंजना कर रहा था। और उसके स्थान पर प्रगतिवाद की प्रतिष्ठा हो चुकी थी जिसने साहित्य में शोषक वर्ग की भूमिका अदा करना प्रारम्भ कर दिया। पर अभिजात्यवर्ग (पूंजीपति आदि) भी इससे कम सचेत नहीं था। पंत और निराला प्रगतिवाद से अपना सम्बन्ध जोड़ चुके थे। प्रगतिवाद के क्षेत्र में विषय-वस्तु और शैली-शिल्प के नूतनतर प्रयोग पंतजी द्वारा सम्पादित रूपाभ में होना प्रारम्भ हो गये थे। पूंजीपति वर्ग को साहित्यिक क्षेत्र से छायावाद के इस प्रकार के पतन से अपना अस्तित्व समाप्त होते नजर आया। इसलिए एक अर्से तक उसका रुख अस्तित्व रक्षा का रहा और अस्तित्व रक्षा के लिए उसने नकारात्मक रुख अपनाया। और वह था प्रगतिवाद का विरोध। प्रगतिवाद की उठती हुई चेतना पर प्रचारात्मकता का आरोप किया गया। उसे रोटीवाद, झंडावाद आदि नाम दिये गये। किन्तु इतिहास की चेतना इन्कार करने से रुकती नहीं है। अस्तु, यह नकारात्मक रुख प्रगतिवाद की चेतना को रोकने में असफल सिद्ध हुआ। फलतः उसने एक नूतन पथ का अवलम्बन किया। बुर्जुआ वर्ग यह अच्छी तरह से समझ चुका था कि हिन्दी का जागरूक साहित्यिक शाश्वतवाद को अच्छी तरह समझ चुका है और शाश्वत के लुभावने आवरण के पीछे छिपी हुई अभिजात्य वर्ग की दुर्भावनाएँ उसे साफ़ नजर आ रही थीं। साथ ही आत्माभिव्यक्ति, व्यक्तित्व-प्रकाशन की फ़ायडवादी शब्दावली से भी श्रमिक-वर्ग की उठती हुई चेतना को दबाया नहीं जा सकता था। अतः छायावाद के पतन से लेकर प्रयोगवाद के प्रारम्भ तक, याने १९३६ से १९४३ तक के बीच के समय में इस बुर्जुआ विचारधारा ने कई रंग पलटे। इस समय में इसे कुछ दिखाई नहीं दे रहा था कि वह क्या करे। उसने प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद और स्वच्छंदतावाद का नारा दिया। परन्तु उठती हुई जन-चेतना ने उसे विफल कर दिया। उन्होंने साहित्य को कई नये मोड़ देना चाहा, पर बेकार। अन्त में आकर उन्होंने पश्चिम के पतनोन्मुख पूंजीवाद में उदित प्रयोगवाद का नारा लगाया, जिसके जन्मदाता अंग्रेजी के कवि तथा आलोचक टी. एस. इलियट हैं। जिन्होंने पूंजीवाद के इस पतनकाल में आइ. ए. रिचार्ड्स की सहायता से इंग्लैंड में कविता की एक दुरूह प्रणाली का प्रवर्तन किया और

उसी के आधार पर रिचार्ड्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि आगे कविता दुरूह होती जावेगी और बहुत थोड़े लोग उसका लाभ पा सकेंगे। परन्तु हिन्दी के लेखकों ने इस प्रयोगवाद का जो सम्मान किया वह तो विदित ही है। आखिरकार निराशा ही मिली और इस वर्ग ने अन्त में पन्त जी को अस्त्र बना कर अरविन्दवाद का नारा लगाया और आज इन दोनों में ही बुर्जुआ काव्य-धारा उलझ रही है।

डॉ० नगेन्द्र ने प्रयोगवादी कविता पर लिखते हुए कहा है कि वह छायावाद की प्रतिक्रिया में अद्‌भुत नवीन काव्य धारा है। वे लिखते हैं : 'शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावतत्त्व और रूप आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असंतोष-सा उत्पन्न हो गया था।.........'

'......निसर्गत : उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई..........'

'प्रारम्भ में इस प्रतिक्रिया का समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक् हो गये।..........'

'पहिले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवादी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दिया गया।'

नगेन्द्र जी के इस कथन का अर्थ स्पष्ट है कि वे प्रयोगवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न प्रगतिवाद का एक साथी आन्दोलन मानते हैं। किन्तु इस प्रकार का कथन पूर्णरूप से भ्रमपूर्ण है। उसका कारण यही है कि आज भी सिद्धांततः प्रयोगवादी काव्य-साहित्य में उसी भूमिका को पूर्ण कर रहा है जिसे किसी समय छायावाद ने किया था। यह भूमिका है व्यक्तिवाद की, व्यक्ति की परिधि में केन्द्रित होकर साहित्य को सामाजिक जीवन से दूर रखने की और अभिव्यक्ति की सनातन समस्या के नाम पर सामाजिक उत्तरदायित्व से बचने की। छायावाद में कवि अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को नहीं समझ सका था और इसीलिये वह व्यक्ति की रति की परिधि में केन्द्रित था। पंत जी ने इस समय हिन्दी के कवियों को चेतावनी देते हुए उन्हें उनके सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध कराया था। छायावाद का कवि अपने व्यक्तिवाद के घेरे को तोड़कर समाज के साथ कदम बढ़ाने के लिये प्रगतिवाद के साथ आगे बढ़ रहा था। किन्तु प्रयोगवाद का कवि अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से अपरिचित नहीं है, वरन् वह सचेत रूप से उससे पलायन कर

रहा है (पलायन तो छायावादी भी करता था परन्तु अचेतन रूप से) जिसे छायावादी भी नहीं कर सका था। अज्ञेय कहते हैं : 'यों समस्यायें अनेक हैं...'

इस प्रकार भाववस्तु के सम्बन्ध में प्रयोगवाद छायावाद के व्यक्तिवाद से दो कदम आगे है और अभिव्यक्ति की सनातन समस्या के नाम पर लेखक को प्रयोगशाला में बिठाने का आग्रह करता है। और यह प्रयोगशाला भी अवचेतन की निविड़ एवम् अविवेकशील कुंठाओं तक ही सीमित है। इसी प्रकार शिल्प के क्षेत्र में भी प्रयोगवाद में छायावाद की शैली का विरोध न होकर उसका विकास ही हुआ है। छायावाद की शैली का सबसे बड़ा दोष था, उसकी अस्पष्टता। यही अस्पष्टता प्रयोगवादी कविताओं पर शीशे के पर्त की तरह जमी हुई है। स्वयम् डॉ० नगेन्द्र ने इसे स्वीकार किया है। वे लिखते हैं :

'उपर्युक्त विवेचन से एक बात जो स्पष्ट हो जाती है वह है इन कविताओं की दुरूहता। ये कवितायें अनिवार्य रूप से ही नहीं, सिद्धांत रूप से भी दुरूह हैं।'

छायावाद की शैली का दूसरा दोष था, उसकी दूरारूढ़ प्रतीक-पद्धति। कवि लोग प्रकृति के प्रतीकों से स्वयम् की यौन-भावनाओं का चित्रण करते थे। स्वयम् डॉ० नगेन्द्र ने अपने 'विचार और अनुभूति' में इसे स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है :

'निदान प्रकृति का प्रयोग यहाँ दो रूपों में हुआ है। एक कोलाहलमय जीवन से दूर शांत स्निग्ध विश्राम भूमि के रूप में और दूसरे प्रतीक रूप में। ......प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ जाने से स्वभावतः उसी के प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रेय हुए।'

प्रकृति के पहले रूप की जिसमें कि कवि पलायन करता है, प्रयोगवादी को आवश्यकता नहीं हुई, क्योंकि वह तो सचेतन रूप से अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को 'इतर' समस्या कहकर उससे इन्कार कर चुका है। परन्तु शिल्प के क्षेत्र में उसने छायावाद की प्रतीक-पद्धति जिसका कि आधार प्रकृति थी, परिवर्तित रूप में ग्रहण की और प्रयोगवाद की प्रतीक पद्धति में प्रकृति का स्थान अवचेतन विज्ञान ने ले लिया है। स्वयम् नगेन्द्र जी इस सत्य से दूर नहीं हैं :

'प्रयोगवादी कवि के प्रतीक-विधान में अवचेतन विज्ञान का यथेष्ट उपयोग रहता है।'

इस प्रकार भावविधान तथा शैली-शिल्प दोनों ही के क्षेत्र में प्रयोगवाद में छायावाद के दोष और अधिक उभर कर आये हैं। छायावादी व्यक्तिवादी और पलायनवादी था, किन्तु अचेतन रूप से। उसकी शैली अस्पष्ट एवं दूरारूढ़ प्रतीकों पर आधारित थी, किन्तु उसके पीछे सिद्धांत का आग्रह नहीं था। तीसरी वस्तु है छायावाद का मूल दर्शन जिसके परिवर्तित रूप का प्रयोगवाद में विकास हुआ है। वह है शाश्वतवाद। शाश्वतता के साथ ही प्रगतिशीलता का नियम भी जुड़ा मानते हैं जो सृष्टि में होने वाले परिवर्तन को परिवर्तन न मानकर उसका आभास मात्र मानते हैं। प्रयोगवादी काव्य के क्षेत्र में इस सिद्धान्त को दूसरे रूप में उपस्थित करते हैं। और उसे (शाश्वत) को सनातन की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इस सनातनता की माँग को देखिये :

'इसलिये कि वह (कलाकार) व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है।'

(अज्ञेय, तारसप्तक का वक्तव्य)

पाठक को समझने में धोखा हो सकता है (जो जान-बूझकर दिया जा रहा है) कि लेखक की यह समस्या प्रारम्भ से आज तक रही है कि जो अपना अनुभूत है (व्यक्ति का सत्य) उसे दूसरों तक कैसे पहुँचाया जाय। परन्तु यह एक तर्काभास मात्र है। कोई हर्ज न होता यदि अज्ञेय या अन्य प्रयोगवादी कवियों का अनुभूत (व्यक्ति का सत्य) जनता तक पहुँचता। उल्टे शैलीगत दुरूहता जैसे पच्चीसों दोषों के कारण विद्वान लोग भी उसे नहीं समझ पा रहे हैं।

अतः उक्त विश्लेषण के आधार पर यह तो स्पष्ट हो ही गया कि प्रयोगवाद जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने कहा है 'छायावाद की प्रतिक्रिया में उद्भूत कोई काव्यधारा है' पूर्णतः भ्रमपूर्ण है।

वरन् वह छायावादी काव्यधारा का विकसित रूप ही दिखाई देता है। छायावाद की सभी बुराइयाँ उसमें पल्लवित हुई हैं। हाँ, छायावाद के सुन्दर शब्द-विन्यास, भावनाओं की मधुर अभिव्यक्ति तथा मूर्त्तविधायिनी कल्पना का अवश्य यहाँ अभाव है।

अज्ञेय के इस प्रयोगवाद का एक सैद्धांतिक धरातल है जिस पर अज्ञेय ने हिन्दी के कई कवियों को एकत्रित कर इस नये 'वाद' का प्रवर्तन किया। और इसके लिये डॉ० रामविलास को कविताएँ देने के लिये विवश किया।

आखिर यह सैद्धांतिक धरातल क्या है ? इस सैद्धांतिक धरातल की सबसे बड़ी विशेषता वह दृष्टिकोण है जिसका केवल काव्य से सम्बंध है। देखने में कितना स्पष्ट लगता है छल-छिद्र विहीन, निष्पाप, शुद्ध साहित्यिक और शायद इसी-लिये डॉ० नगेन्द्र ने प्रयोगवादी साहित्य को साहित्य न मानते हुए भी उसके अस्तित्व को साहित्यिक करार दिया है। ज़रा नगेन्द्र जी के ये दो परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों को मिलाकर तो देखिये फिर आपको अज्ञेयजी की सफलता का रंग दिखाई देगा :

'दूसरे वर्ग (प्रयोगवादी) ने सामाजिक, राजनैतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा।'

'काव्य की सार्थकता इसी में है कि वह राग को संवेदनीय बनाये, बौद्धिक तत्त्व को संवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं है। शक्ति का साहित्य अथवा ललित साहित्य वस्तु के साहित्य में इसी बात में मूलतः भिन्न है। यह अन्तर जब तक काव्य का अस्तित्व है बना रहेगा। इसका तिरोभाव होने से काव्य के अस्तित्व पर ही आघात होता है। प्रयोगवादी कवि ने नवीनता की झोंक में काव्य के इसी मर्म पर चोट की है और परिणाम यह हुआ कि उसकी रचना प्रायः काव्य नहीं रह गई है। उसमें मन को स्पर्श या चित्त को द्रवित करने की शक्ति नहीं रही।'

जब प्रयोगशील कवि की कविता काव्य ही नहीं रह गई है तो फिर उन प्रयोगशील कवियों का व्यक्तित्व कैसे साहित्यिक रहा ? यह एक विचार-णीय प्रश्न है। स्पष्ट है कि नगेन्द्र जी भ्रम में हैं। और यह भ्रम भी इस 'वाद' के प्रवर्त्तकों द्वारा सचेतन रूप से उत्पन्न किया जा सके अन्यथा काव्य न रहते हुए भी आज के साहित्य में उनका स्थान कैसे रहता।

अब ज़रा अज्ञेय जी का वह दृष्टिकोण देखना चाहिए जिसने हिन्दी के विचारशील तथा विद्वान आलोचक को भ्रम में डाल दिया। अज्ञेय जी ने अपने परिचय में स्पष्ट रूप से लिखा है कि उनकी रुचि इस प्रकार के विषयों में अधिक है जिनसे तत्काल कोई सम्बन्ध न हो। इसीलिये उन्होंने एक ऐसी समस्या को उठाया जिसका आज के जीवन तथा काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं था और बैठे उसे ही लेकर तर्क-वितर्क करने। यह समस्या है भावप्रेषण की। समस्या शुद्ध साहित्यिक उठाई गई ताकि सभी यह समझें कि इन कवियों तथा लेखकों का क्षेत्र साहित्य से बाहर नहीं है। और उसके बाद जो लिखना प्रारम्भ कर दिया गया वह बाद का विषय है। अस्तु, आलोचकों के भ्रम

का कारण अज्ञेय जी द्वारा उठाई गई समस्या ही है जिसे अज्ञेय जी ने प्रयोगवाद का सैद्धांतिक आधार बताया है।

अन्त में हम कहना चाहते हैं कि प्रयोगवाद की धारा आज के हिन्दी साहित्य में वही भूमिका अदा कर रही है जो एक समय तक छायावाद ने की थी। उसे प्रगतिवाद की तरह छायावाद की प्रतिक्रिया में उद्भूत काव्यधारा मानना भारी भ्रम है।

मुक्त छन्द और हिन्दी कविता

मुक्त छन्द हिन्दी कविता की नवीनतम विशेषता है। प्रारम्भ में इसका बड़ा कड़ा विरोध हुआ और इसको भिन्न-भिन्न नाम दिये गये। केंचुआ छन्द, रबड़ छन्द, कंगारू छंद आदि इसके बचपन के नाम हैं। कहते हैं जिस वस्तु को जितना अधिक दबायें वह उतनी ही ज़ोर से ऊपर आती है। ठीक उसी तरह मुक्त छंद के विकास में जितनी अधिक बाधायें उपस्थित हुई आज उतना ही अधिक उसका विकास हुआ दिखाई देता हैं। आज हिन्दी के किसी भी पत्र-पत्रिका को उठा लीजिये लगभग एक चौथाई रचनायें इस छंद में मिल जावेंगी। ऐसे कवि कम हैं जिन्होंने मुक्त छंद में रचना नहीं की। हिंदी के किसी भी युग में कोई भी छंद इतना लोकप्रिय नहीं हुआ।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या मुक्त छंद भी कोई एक छंद है? अक्सर लोगों को कहते सुना जाता है कि मुक्त छंद और छंदमुक्त हिन्दी कविता में अन्तर होता है। छंद मुक्त का अर्थ होता है कि कोई छंद ही न हो। किन्तु मुक्त छंद का तो एक प्रकार का छंद विधान रहता है। उसके भी नियम होते हैं। किन्तु इसका छंद विधान क्या है? इसके नियम क्या हैं? इन प्रश्नों का उत्तर या तो मौन से मिलता है या कुछ लोग यों भी कहते हैं कि अभी इसका पूर्ण रहस्य निराला जी ही जानते हैं। इस प्रकार मुक्त छंद काव्य की एक प्रवृत्ति विशेष के रूप में न रह कर कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई, बरवै, रोला आदि छंदों की तरह एक छंद के रूप में रूढ़ हो गया है। सम्भव है कोई छंद-शास्त्री इसका लक्षण निर्धारित करे।

कुछ लोगों का कहना है कि मुक्त छंद में कोई छंद तो नहीं रहता पर 'लय' अवश्य रहती है। और कविता के लिये 'लय' की ही आवश्यकता है। किन्तु यह तर्क भी वैसा ही निस्सार है। क्योंकि पहली बात तो यह है कि छंद का अर्थ ही बंध है। फिर मुक्त है तो बंध कैसा? और छंद (बंध) है तो मुक्त कैसा? और फिर मुक्त छंद को भी 'लय' और 'गति' के बंधनों से छुटकारा नहीं। जहां साधारण छंदों में मात्राओं तथा वर्णों के बंधन है वैसे ही यहाँ 'गति' और 'लय' के। वस्तुतः विचार किया जावे तो गति और लय के बंधन एक प्रकार से छंद के ही बंधन हैं। चाहे उन्हें शास्त्रीय रूप दिया

गया हो या नहीं। क्योंकि छंद स्वयं लय की अनुभूति का शास्त्रीय रूप है और उससे पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं।

अस्तु, मुक्त छंद के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व आवश्यकता इस बात की है कि काव्य, लय और छंद के पारस्परिक स्वरूप को ठीक तरह से समझ लिया जाए। काव्य, लय और छंद के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हमें इस सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है। आदि कवि वाल्मीकि का हृदय जब तमसा तट पर व्याध द्वारा नर क्रौंच का वध देखकर क्षुब्ध हो उठा था, तो सहसा भावमयी वाणी उनके मुख से निकल पड़ी थी :

"मा निषाद प्रतिष्ठा त्वम् शाश्वतीः गमाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥"

इस श्लोक के कह चुकने पर महर्षि के मन में कुछ विचार उत्पन्न हुए और उन्होंने अपने शिष्य भारद्वाज से कहा :

"देखो, यह श्लोक मैंने शोकार्त्त हो उच्चरित किया है। इसमें समान अक्षरों से युक्त चार चरण हैं। यह वीणा की लय पर भी गाया जा सकता है। अतः यह मुझे यश प्रदान करने वाला हो।"

आदि कवि के इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि इस (अनुष्टुप) जो कि काव्य का प्रथम छंद है, का लक्षण निर्धारित होने के पूर्व ही वीणा की लय निश्चित हो चुकी थी। वीणा पर गाये जाने के कारण अंग्रेजी कविता के एक बड़े भाग को 'लीरिक' की संज्ञा मिली है।

यदि लय पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि उसका आधार प्रकृत और मानव के संघर्ष में मानवीय श्रम द्वारा उद्भूत स्वर और ध्वनियों की गति है। उसका स्वरूप जातीय तथा चेतना सामूहिक होती है। उसका सम्बन्ध जीवन की समग्रता से रहता है। जॉर्ज टॉमसन ने लिखा है :

"Rhythm may be defined in its broadest sense as a series of sounds arranged in regular sequences of pitch and time. Its ultimate origin is no doubt, physiological—perhaps connected with the heart beat. But at that level it is something that man shares with the other animals. We are not concerned here with the physical germ of rhythm. Whatever it may be, but with what man has made of it. I am going to argue that human rhythm originated from the use of tools.

(Marxism and Poetry : Page 14-15.)

ऊपर दिये हुए आदि कवि के तथा जॉर्ज टॉमसन के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि लय का निर्माण छंद की कल्पना के बहुत पूर्व हो चुका था। हम देखते हैं कि छंदों में भी एक प्रकार की लय पाई जाती है। वस्तुतः यह लय ही छंदों की आधार भूमि है, जिस पर छंदों के लक्षण निर्धारित किये जाते हैं। लय के सम्बन्ध में कॉडवेल का विश्लेषण अत्यन्त सारगर्भित एवं विचारोत्तेजक है। वे लिखते हैं :

"The body had certain natural periodicities (Pulse-beat, breath etc.) which form a dividing line between the casual character of outside event and ego, and make it appear as if we experience time subjectively in special and direct manner. Any rythmical movement of action, therefore, exalts the physiological component of our conscious field at the expense of environmently it tends to produce introversion of a special kind, which I will call emotional introversion and contrast with rational introversion, such as takes place when we concentrate on a mathematical problem. There rhythm would be out of place."

(Illusion & Reality)

लय की यह भाव-परक अन्तर्दृष्टि स्वयं में एक सामाजिक क्रिया है। दूसरे प्रकार से कहें तो यों कह सकते हैं कि इकाई के से एक स्वरूप का इकाई के व्यष्टिगत रूप से विरोध होता है जो कि यथार्थ और मानवीय जीवन-धारा में परिवर्तन उपस्थित करता है।

लय के इस महत्व को दृष्टि में रखते हुए हमें लय का छंद तथा काव्य से पारस्परिक सम्बन्ध देखना है। यह हम पहले ही कह आये हैं कि छंदों की आधार-भूमि ही लय है। और उसी के आधार पर मात्राओं तथा वर्णों का विधान होकर छंदों का निर्माण होता है। और इस प्रकार छंद स्वाभाविकता (लय) का शास्त्रीय रूप है। दूसरे शब्दों में हम इसे जीवन की स्वाभाविक प्रकृति का कृत्रिम बंधन भी कह सकते हैं। अब जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है लय उसके लिये आवश्यक है। प्रथम तो मानव की प्रवृत्ति ही लयात्मक है;

दूसरे जैसा कि कॉडवेल ने कहा है लय मानव सुलभ भावुकता के प्रकर्ष में सहायक है। साथ ही भाषा की दृष्टि से भी विचार करें तो कह सकते हैं कि भाषा का बोधात्मक पक्ष ही लय संभूत है और तभी वह स्मरणीयता का गुण प्राप्त कर सकी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लय एक जीवन्त शक्ति हैं जिसका भाषा पर आरोप करके छंद का नियमन किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लय, छंद और काव्य परस्पर एक सूत्र में अनुस्यूत हैं। छंद एक ऐसा कोई वाह्य विधान नहीं जो ऊपर से लाद दिया हो और न उसका आधार अटकलबाजी ही है। वरन् उसका भी एक तात्त्विक आधार है। खेद है कि द्रोह एवं अनुकरण की धुन में हमारे कवि-गण उसे बंधन मान बैठे हैं। छंद में भाषा के माध्यम से लय का नियमन किया गया है और इस प्रकार उसका दृष्टिकोण जीवन में संरक्षणात्मक है और संरक्षण करना विकास को रोकना तो कदापि नहीं। सामाजिक विकास के साथ ही जीवन की प्रक्रिया में परिवर्तन होते हैं। नई लय व धुन का जीवन में प्रवेश होता है। उसके आधार पर नूतन छंदों का निर्माण किया जा सकता है। ऐसे टेकनीक को अपनाया जा सकता है जो आज के जीवन की विभीषिका को अभिव्यक्त कर सके। अस्तु, इस विषय को यहीं समाप्त कर हम मुक्त छंद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करेंगे।

हिन्दी में मुक्त छंद का प्रवेश एक क्रान्तिकारी योजना के रूप में हुआ। प्रारम्भ में इसके प्रयोग प्रसाद जी कर चुके थे। और उनके बाद निराला जी ने इसे आगे बढ़ाया। आज भी निराला जी ही इसके आचार्य माने जाते हैं। वस्तुतः यह हिन्दी वालों की मौलिक प्रतिभा की सूझ नहीं है। वरन् इसके कई वर्ष पूर्व बंगला और उसके पूर्व अंग्रेजी में इसके काफ़ी प्रयोग हो चुके थे।

अंग्रेजी में इसके पहले-पहल प्रयोग अमेरिकन कवि वाल्ट ह्विटमैन में किये। उनकी कविताओं का प्रथम संग्रह जब "घास की पत्तियाँ" के नाम से प्रकाशित हुआ तो साहित्य-संसार में एक बड़ी हलचल पैदा हो गई। कवि का इस सम्बन्ध में वक्तव्य था कि जिस प्रकार घास की पत्तियाँ समान नहीं होतीं उसी प्रकार कविता की भी, जो कि प्राकृतिक रचना ही है, पंक्तियों के लिये यह आवश्यक नहीं कि वे समान आकार की ही हों। अंग्रेजी साहित्य में आगे चलकर इसी मुक्त छंद को लेकर संवेदनावाद का जन्म हुआ। किन्तु उसकी दूरारूढ़ अर्थ यात्रा साधारण पाठक की बुद्धि से बाहर की चीज हुई और फलतः यह नया ऊँट गाँव छोड़कर आगे चल दिया। अंग्रेजी के संसर्ग से

बंगला कविता में मुक्त छंद का प्रवर्त्तन हुआ। और वहाँ से निराला जी ने उसे हिन्दी में प्रतिष्ठित किया।

मुक्त छंद का प्रयोग होने के पहिले हिन्दी में भिन्न-भिन्न तुकान्त कविता का होना तो प्रारम्भ हो गया था और मात्रिक तथा वर्णिक दोनों ही प्रकार के छंद काव्य रचना में प्रयुक्त किये जाते थे। हिन्दी मुक्त छंद के उन्नायक निराला जी हैं। इसकी स्थापना करते हुए उन्होंने छंद क्रिया के प्रमुख तत्त्वों की ओर अपनी भूमिकाओं में साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित किया और उन्हीं तत्त्वों पर मुक्त छंद के लिये भूमि का निर्माण किया। निराला जी का प्रारम्भ में पर्याप्त विरोध हुआ। परन्तु बाद में हिन्दी कवियों ने उसे अपनाना प्रारम्भ कर दिया। अब प्रायः विरोध शान्त हो चुका है और आवश्यकता है इस बात की कि मुक्त छंद का तात्त्विक दृष्टि से विश्लेषण किया जाए। आज उसके सम्बन्ध में फैली हुई धारणाओं का भी अंत होना आवश्यक है। एतदर्थ हमें छंद की मूल स्थापनाओं को जानना अत्यन्त आवश्यक है। इस हेतु निराला जी का वक्तव्य पठनीय है। निराला जी ने मुक्त छंद की आवश्यकता तीन रूपों में मानी है:

(१) उनका कहना है कि मुक्त भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये छंद भी मुक्त होना जरूरी है। जिस प्रकार कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना मनुष्य की मुक्ति है, उसी प्रकार छंद के शासन से छुटकारा पाना ही कविता की मुक्ति है।

(२) मुक्त छंद में प्रवाह अधिक रहता है। भाव की उन्मुक्तता के लिये यह आवश्यक भी है।

(३) मुक्त छंद में ओज और पौरुष रहता है, छंद में नहीं। "वह कविता की स्त्री सुकुमारता के विरुद्ध कवित्व का पुरुष गर्व है ?" इसी धुन में उन्होंने मुक्त छंद को सिंधु राग कहा है।

अस्तु, निरालाजी द्वारा प्रस्तुत किए गए तीनों तर्कों पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। निराला जी के कथन "भावों की मुक्ति छंद की भी मुक्ति चाहती है" का कोई तात्त्विक आधार नहीं। इस कथन का आधार ही अलंकार और अलंकार्य का (याने मेटर और टेकनीक) कल्पित पृथकत्व है। चाहे क्रोचे को गालियाँ देकर सहानुभूति को ठुकरा दीजिए, किन्तु कलागत जीवन-सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता। जबकि सौंदर्य की चेतना का आधार ही एक विकास पर आधारित है, फिर अनुभूति के व्यक्ति-सत्य को

वस्तु और शैली में विभाजित कर दोनों को एक ही चेतना की उद्भूति न मानना कदापि संगत नहीं । अस्तु, निराला जी के इस कथन की एक साहित्यिक पृष्ठभूमि है और वह यह कि भारतीय साहित्य में छंद को सदैव आरोपित माना गया है जबकि शैली वस्तु पर ऊपर से आधारित नहीं वरन् उसका शरीर है, और शरीर के बिना प्राण का अस्तित्व ही क्या । व्यावहारिक दृष्टि से निराला जी का यह कथन संगत नहीं दिखाई देता । स्वयं उन्हीं को हम इस कसौटी पर कस सकते हैं । निराला जी की ये पंक्तियाँ देखिये :

भारत के नभ का प्रभा पूर्य ।
शीतलाच्छाय सांस्कृतिक सूर्य ।
अस्तमित हुआ तमस् तूर्य दिग्मंडल ॥

अथवा :

वह उस शाखा का वन विहंग
उड़ गया नील नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग पर रंग रंग पर जीवन

यहाँ विचारणीय है कि सारी भावनायें छंद के माध्यम से व्यक्त हुई हैं तो फिर क्या ये भाव पराधीन हैं ! यदि हाँ, तो फिर किस प्रकार ? ऐसा कहीं भी प्रतीत नहीं होता, जहाँ भाव प्रकट नहीं हो रहा हो । फिर मुक्ति किसकी ?

दूसरे, निराला जी का कथन है कि मुक्त छन्द में प्रवाह अधिक रहता है, किन्तु वस्तुतः प्रवाह सदा से लय की दीर्घता पर अथवा गति पर अवलंबित है । आज सैकड़ों की तादाद में प्रकाशित होने वाली मुक्त छंद की रचनायें तथा स्वयं निराला जी की रचनायें क्या प्रवाह-शून्य हैं ? फिर स्वर की विराटता तथा प्रवाह का उदात्त होना तो छंद के चुनाव पर अधिक अवलम्बित है । उदाहरण के लिए निम्न छंद के प्रवाह की तुलना मुक्त छंद की किसी भी कविता से की जा सकती है ।

पागुर करती छाँही में, कुछ गंभीर अधखुली आँखों से
बैठी गायें करतीं विचार ।
सूनेपन का मधु गीत, आम की डालों में
आती जातीं मिल कर मधुमाखियाँ लगातार ॥

निराला जी की तीसरी दलील और भी मजेदार है और वह बिना किसी कारण के मुक्त छंद की कविता में ओज गुण तथा पौरुष की कल्पना करना। इस तर्क की निस्सारता निराला जी की ही कई कविताओं से सिद्ध हो सकती है। जूही की कली में कैसा पौरुष है, समझ में नहीं आता ? और छंद-बद्ध कविता किस प्रकार पौरुषहीन कविता है—यह निराला जी ने नहीं बतलाया। क्या मुक्त छन्द के प्रयोग के पहिले का सारा साहित्य पौरुषहीन है।

अस्तु, इस प्रकार से विचार करने पर प्रतीत होता है कि निराला जी की मुक्त छन्द के पक्ष में दी हुई दलीलें कोई तात्त्विक अर्थ नहीं रखतीं। फिर निराला जी मुक्त छन्द के लिए लय की उपस्थिति अनिवार्य मानते हैं। साथ ही जूही की कली का विश्लेषण करते हुये उन्होंने उस कविता की प्रथम पाँच पंक्तियों को कवित्त छन्द की तरह बतलाया है। इसी प्रकार आगे कहा है कि मुक्त छन्द कवित्त छन्द की बुनियाद पर ही सफल हो सकता है। साथ ही परिमल की भूमिका में भी उन्होंने कहा है कि मुक्त छन्द में प्रवाह कवित्त छन्द-सा ही जान पड़ता है। इसी आधार पर डॉ० रामविलास शर्मा भी मुक्त छन्द के लिए कवित्त के पद की इकाई अनिवार्य मानते हैं। वे लिखते हैं कि मुक्त छन्द होते हुए भी वह एक छन्द है। उसमें गति और प्रवाह की कोई इकाई होनी चाहिये। निराला जी के वर्णिक मुक्त छन्द में कवित्त का एक चरण अक्सर इकाई का काम करता है। जैसे—'जागो फिर एक बार' में (हंस)। इस उद्धरण से प्रकट होता है कि मुक्त छन्द के भी दो भेद होते हैं। (१) वर्णिक और (२) मात्रिक। और वर्णिक छन्द में कवित्त की इकाई रहती है। जैसे "जागो फिर एक बार" में तथा "जुही की कली" की प्रथम पाँच पंक्तियों में। किन्तु इस मुक्त छन्द में कवित्त की इकाई किस प्रकार से है यह न तो डॉ० रामविलास शर्मा ने स्पष्ट किया है न निराला जी ने ही। क्या इस इकाई से तात्पर्य जैसा कि डॉ० सांहब ने कहा है, ध्रुवपद से है ? जो प्रमुख पंक्ति कई पंक्तियों के बाद अपनी तुक पाकर दोहरा दी जाती है। जैसी कि "जागो फिर एक बार" में। तो फिर इस प्रकार की इकाई जूही की कली में कहाँ ? और यमुना के प्रति तोड़ती पत्थर, एवं पंचवटी प्रसंग आदि कविताओं में जिनमें कि इस प्रकार की इकाई का सर्वथा अभाव है, मात्रिक मुक्त छंद है ? यह तो हुआ निराला जी का काव्य की दृष्टि से विश्लेषण। आगे हमें यह भी देखना है कि निराला जी के बाद हिन्दी कविता में मुक्त छन्द के जो प्रयोग हुए हैं, उनमें किसी प्रकार के एक नियम का पालन नहीं किया गया है। प्रायः प्रत्येक कवि ने नियम मुक्त रूप से ही इसे अपनाया है। हाँ, उसे छन्द-मुक्त न

कह कर कहा मुक्त छन्द ही है। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से इस छन्द का कोई सर्वमान्य स्वरूप आज तक उपस्थित नहीं हो सका।

मुक्त छंद की उद्भावना को हम इतिहास के आलोक में देखें तो ज्ञात होगा कि जो लोग मुक्त छंद को केवल अंग्रेज़ी की देन समझते हैं वे इसकी सामाजिक पृष्ठभूमि से प्रायः अपरिचित हैं। मुक्त छंद का प्रयोग जिन दिनों प्रारम्भ हुआ उन दिनों द्विवेदी युग अपनी चरम स्थिति पर था। यदि द्विवेदी युग की चेतना पर विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि भारतेन्दु से प्रारम्भ हुए बुर्जुआ आन्दोलन का यह एक विकसित रूप था। कम्पनी शासन के साथ ही भारतीय जीवन में यंत्र-युग का प्रवेश होता है और फलतः भारत में उत्पादन की सामूहिक क्रिया का प्रारम्भ हो जाता है, अस्तु, उत्पादन के प्राचीन सामन्ती सम्बन्धों का टूटना तथा नवीन उत्पादन सम्बन्धों का निर्माण होना भी प्रारम्भ होता है। एक प्रकार से यह मध्य-युग की समाप्ति तथा आधुनिक युग की सन्धि का स्थल है। इधर पश्चिमी साम्राज्यवाद की छाया में भारतीय पूंजीवाद का भी अप्राकृतिक रूप से विकास होना प्रारम्भ होता है। इस नवोदित पूंजीवाद को एक ओर तो समाज के सामन्ती ढाँचे से संघर्ष करना पड़ता है और दूसरी ओर विदेशी पूंजीवाद की चरम परिणति साम्राज्यवाद उसके विकास को रोकने का प्रयास करता है। इस प्रकार के अन्तर्विरोधों से युक्त नवोदित पूंजीवाद एक तीसरे वर्ग, मध्यम वर्ग को जन्म देता है। यह मध्यम वर्ग मूलतः विद्रोही है। राजनीति की ही भाँति साहित्य का नेतृत्व भी यह वर्ग अपने हाथ में ले लेता है। साहित्य में यह पुरानी रूढ़ियों पर चोट करता है। द्विवेदी युग में इस विद्रोह का स्वर सबसे ऊँचा था। रीतिकाल की संपूर्ण प्रक्रिया का विरोध, और उसके साथ ही ब्रज भाषा की भी, इस युग की प्रमुख विशेषता है। मुक्त छंद में भी यही बुर्जुआई विद्रोह दृष्टिगत होता है और इसी रूप में उक्त विद्रोह की चरम परिणति हुई है। जिस समय अंग्रेज़ी साहित्य में मुक्त छंद का प्रारम्भ हुआ वहाँ भी यही परिस्थितियाँ थीं। कॉडवेल ने स्पष्ट लिखा है :

'We have already studied in outlines these changes in attitude towards the metrical technique during the movement of Bourgeois English poetry, and it is obvious that the final movement towards FREE VERSE reflects the final anarchic bourgeois attempt to abandon all social relations in a blind

negation of them, because man has completely lost control of his social relationships'.

(Illusion and Reality)

इस प्रकार सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार करने पर ज्ञात होगा कि मुक्त छंद के मूल में जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह कदापि स्वस्थ एवं विकासोन्मुखी नहीं रही है। और निराला जी के व्यक्तित्व के नाते ही कोई उसे प्रगतिशील मान ले तो फिर बात ही दूसरी है। यह एक अराजकतावादी प्रवृत्ति थी—जिसके मूल में विश्लेषण करने पर केवल रूढ़ि-विद्रोह की ही भावना है। प्रगतिशील कहे जाने वाले कवि आज भी इसके शिकार हैं। और श्री शिवमंगल सिंह "सुमन" तो आज भी इसके हामी हैं। (देखिये "आजकल" (सितम्बर) में प्रकाशित प्रयोगवाद पर रेडियो वार्त्तालाप)।

यह तो हुआ ऐतिहासिक विश्लेषण। पर आज की स्थिति भिन्न है। न तो मुक्त छंद का विरोध ही किया जा सकता है और न कोई सामान्य स्वरूप ही निश्चित होगा यह आशा की जा सकती है। देखना हमें यह है कि मुक्त छंद नूतन प्रगतिशील काव्य के किस भाग की अभिव्यंजना अधिक अच्छे ढंग से कर सकता है, इस प्रश्न पर विचार करने के लिये हमें आज के प्रगतिशील काव्य पर एक दृष्टि डालनी होगी। देखने पर ज्ञात होगा कि आज के प्रगतिशील कवियों में अधिकांश में मध्यम वर्ग के लोग हैं। इन कवियों के जीवन में प्रायः जन-सम्पर्क का अभाव है। अस्तु, जन-भावना को जब ये कवि अभिव्यंजित करने जाते हैं तो प्रायः जन-सम्पर्क न होने से इनका काव्य केवल बहिर्गत हो जाता है। और प्रायः अनुभूति के तीखेपन के अभाव में उसमें कवि का हृदय कम उतर पाता है। क्योंकि भावना जो उत्पन्न होती है वह अनुभूति युक्त न होने के कारण स्वयं किसी छंद का रूप धारण नहीं कर पाती, और ज्योंही कवि उसे छंद का बाना पहिनाने बैठता है उसके हृदय का रस तीखी अनुभूति के अभाव में कपूर की भाँति हवा में उड़ता नजर आता है। ऐसे समय में मेरे दृष्टिकोण से मुक्त छंद मध्यमवर्गीय प्रगतिशील कवियों का अच्छा साथ दे सकता है। इस प्रकार मुक्त छंद की प्रगतिशील दृष्टि से कुछ उपयोगिता अवश्य प्राप्त की जा सकती है तो यही कि मध्यम वर्गीय कवि भी इसके माध्यम से स्वयं को सामूहिक जन-भावना को अभिव्यक्त करने में सक्षम बना सकते हैं।

आगे हमें हिन्दी में मुक्त छन्द की सफलता-असफलता के तत्त्वों

पर विचार करना है। क्योंकि इसकी रचना के लिए कोई निश्चित नियम न होने से प्रत्येक कवि ने इसकी रचना अपने ढंग से की है। एक कवि के रचना-विधान का दूसरे कवि के रचना-विधान से मेल नहीं बैठता है। अस्तु किसी निश्चित रचना-विधान के अभाव में हम केवल लय तथा प्रभविष्णुता के आधार पर हिन्दी कवियों द्वारा हुए मुक्त छन्द के प्रयोगों को देखने का प्रयत्न करेंगे।

निराला जी मुक्त छन्द के उन्नायक हैं। उन्होंने मुक्त छन्द का काफी सुन्दर और सफल प्रयोग किया है। छन्द की सफलता के लिये तुक तथा अनुप्रासों की योजना उन्होंने बड़ी सफ़ाई के साथ की है :

वह आता
दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता
पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को
भूख मिटाने को
वह फटी पुरानी
झोली को फैलाता
पछताता पथ पर आता

प्रस्तुत उदाहरण में रेखांकित वर्णों तथा शब्दों में जो तुक तथा अनुप्रास की सहायता से नाद-सौंदर्य की व्यंजना की गई है, वह साधारण तुकांत कविता से कहीं अधिक हृदयस्पर्शी तथा चमत्कार उत्पन्न करने वाली है। इसी प्रकार जुही की कली में भी तुक और अनुप्रास की सहायता से नाद-सौंदर्य की सृष्टि की गई है।

इस पर भी जागी नहीं, चूक क्षमा माँगी नहीं
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही,
किंवा मतवाली थी,
यौवन की मदिरा पिये
कौन कहे।

इसी प्रकार निराला जी के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त ने भी मुक्त-छन्द के कई सफल प्रयोग किये हैं। पन्त वैसे ही शब्द-शिल्पी हैं। मुक्त छन्द

में सुन्दर अनुप्रासों की योजना तथा उनके मधुर शब्द-विन्यास से मुक्त-छन्द में एक सजीवता उत्पन्न हो गई है। देखिये :

ताक रहे हो गगन,
मृत्यु नीलिमा गहन,
अनिमेष, अचितवन, काल नयन
निष्पंद, शून्य, निर्जन निःस्वन,
देखो भू को, पुण्य प्रसू को

पंत, प्रसाद, निराला के अतिरिक्त हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने इसका प्रयोग किया है। (महादेवी, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, गुरुभक्तसिंह, ठा० गोपालशरणसिंह, आरसी, अनूप, नवीन, भारतीय आत्मा आदि इसके अपवाद हैं।) परन्तु सफल प्रयोग बहुत कम ही हुए हैं। दिनकर, भट्ट, सोहनलाल द्विवेदी, गिरिजाकुमार माथुर, अज्ञेय, माचवे, नगेन्द्र, महेन्द्र भटनागर, नरेश मेहता, हरि व्यास, शमशेरसिंह, केदार, नागार्जुन आदि कवि प्रमुख हैं, जिन्होंने मुक्त-छंद का प्रयोग विशेष रूप से किया है। अधिकांश कवियों ने लय पर कम ध्यान दिया है। फलतः गद्यात्मकता का अनुचित समावेश हो गया है। साथ ही जिन्होंने लय का ध्यान रखा भी है, उन्होंने चमत्कार तथा ध्वनि-सौंदर्य उत्पन्न करने के अन्य साधनों का एक साथ परिहार किया है। गिरिजाकुमार तथा नागार्जुन ही इसमें सफलता प्राप्त कर सके हैं। शंकर शैलेंद्र के प्रयोग अपने ढंग के निराले ही हैं, जिनसे हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति का समुचित विकास हुआ हैं। गिरजाकुमार ने ध्वनि-योजना पर पर्याप्त ध्यान दिया है। दिनकर ने तो मुक्त-छन्द को भी अपने ओज से दीप्त कर दिया है। अज्ञेय जी का मुक्त-छन्द बेचारा प्रयोगवाद के खंडहर में ही दब गया और प्रभाकर माचवे में तो गद्यात्मकता सीमा को लाँघ गई है, जो मुक्त-छन्द की पैरोडी मालूम पड़ती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक सीमा तक मुक्त-छन्द हमारे मध्य-वर्गीय कवियों के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। काफ़ी सुन्दर साहित्य इसमें लिखा गया है और उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

कवि केदारनाथ अग्रवाल

छायावाद के पतन के साथ जनता की महान सांस्कृतिक चेतना के रूप में हिन्दी के साहित्यिकों ने प्रगतिवाद के जीवन-पोषक दृष्टिकोण को अपनाया। प्रगतिवाद कोई 'वाद' नहीं वरन् जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टि-कोण है। प्रगतिशील साहित्य जनता की उस महान आशा, आकांक्षा और कर्मेच्छा की अभिव्यंजना है जो देश, समाज और मनुष्य को आर्थिक, राज-नैतिक एवं बौद्धिक दासता से मुक्त होने की प्रेरणा देती है।

हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य के सम्मुख कई प्रश्न थे। उन्हें जहाँ एक ओर प्रतिक्रियावादी तत्त्वों से संघर्ष करना था, साहित्य और जीवन का निकट से सम्बन्ध जोड़ना था और सर्वहारा वर्ग की लड़ाई के लिये साहित्य को सामाजिक प्रभाव के एक प्रबल अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करना था—वहीं उसे एक विराट् भावभूमि का निर्माण करना था जिस पर वे सभी लेखक एकमत होकर कार्यरत हो सकें जो दिल से जीवन की सही प्रगति में विश्वास रखते हैं। इस व्यापक भावभूमि के निर्माण के लिये साहित्यकारों द्वारा भारतीय जीवन की समस्याओं और परिस्थितियों को समझना आवश्यक था। तीसरा कार्य जो प्रगतिशील साहित्यिकों के सम्मुख था वह था प्रेम के स्वस्थ स्वरूप की स्थापना। बात यह थी कि छायावाद के अतीन्द्रिय और वायवी प्रेम के विरोध में जब अंचल, नरेंद्र प्रभृति कवियों ने मांसल और ऐन्द्रिक प्रेम की अभिव्यंजना की तो हिन्दी के उन समीक्षकों ने, जो प्रगतिवाद के सामाजिक रूप से घबराते थे, जो छायावाद के कट्टर समर्थक रहे—उन्होंने ऐसे कवियों को क्रांतिद्रष्टा और स्रष्टा कहना प्रारम्भ कर दिया। [देखिये नंददुलारे वाजपेयी 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी']।

इससे प्रगतिवाद के बारे में काफ़ी भ्रम फैला और लोग यह समझने लगे कि उन्मुक्त वासना का प्रदर्शन और अश्लीलता गोया प्रगतिवाद के ही अंग हैं। प्रगतिवादियों ने इस प्रकार की प्रवृत्तियों की निन्दा की, पर प्रगतिवाद के सकारात्मक रूप का अभी तक हिन्दी में विकास नहीं हुआ था—जिसे वे प्रगतिशील काव्य को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते।

इसी संघर्ष के काल में कुछ प्रतिभाएँ आगे आईं और उन्होंने सही

प्रगतिशीलता को काव्य में अभिव्यंजित किया। गिरजाकुमार माथुर, केदारनाथ अग्रवाल, शील और नागार्जुन इनमें प्रमुख हैं।

केदारनाथ हिन्दी के सहृदय और भावुक कवि हैं। उन्होंने अपने कवि जीवन का प्रारम्भ प्रेम और शृंगार के रोमानी कवि के रूप में किया। उनकी प्रेम सम्बन्धी रचनायें एक सीमा तक छायावाद के भाव तथा व्यंजना-तत्त्व से प्रभावित हैं।

'नींद के बादल' जिसका प्रकाशन उसके प्रमुख संग्रह के बाद हुआ है—कवि की प्राथमिक रचनाओं का संग्रह है। 'नींद के बादल' की कविताओं और 'युग की गंगा' की रचनाओं की भावभूमि तथा रचना-प्रक्रिया में भारी अंतर है। 'नींद के बादल' एक सांकेतिक नाम है, जिससे इस संग्रह की आत्मकेन्द्रिकता तथा स्वप्नप्रवणता स्पष्ट हो जाती है। कवि ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"नींद के बादल की कवितायें वैयक्तिक हैं, फिर भी मेरे कवि विकास की पहिली मंज़िल के स्पष्ट चिह्न हैं, जो अभी तक ज्यों के त्यों कागज़ के कलेजे पर जमे हुए हैं, हीरे के ऊपर नक़्श हो गये हैं।" इस कथन से कवि की इन कविताओं के प्रति जो आसक्ति है—जो रागात्मक सम्बन्ध है—वह स्पष्ट हो जाता है। अपनी सृष्टि के प्रति, स्रष्टा का स्नेह हो यह कोई नई बात नहीं—पर केदार की इस आसक्ति के सम्बन्ध का उन्हीं के शब्दों में कोई कारण हैं तो यह कि एक तो वे कवि के विकास की पहिली मंज़िल के मार्गचिह्न हैं; दूसरे आज के कवि को उनसे कोई असंतोष नहीं है—वरन् वे उसे आज भी प्रेरणा देते हैं।

प्रश्न है—ये नितांत वैयक्तिक कविताएँ भला आज के जनवाद के गायक कवि के स्नेह और प्रेरणा की वस्तु कैसे हो सकती हैं? इसका सबसे बड़ा कारण संग्रह की रचनाओं में व्याप्त कवि की ईमानदारी, सादगी, स्वस्थता और सामाजिकता है।

'नींद के बादल' की रचनाएँ कवि की बेहद ईमानदारी की सबूत हैं। इस ईमानदारी के कारण इस संग्रह में अपने युग की सारी ह्रासोन्मुखी और विकासोन्मुखी काव्य-प्रवृत्तियों की छाप है। पर यह ईमानदारी त्रिलोचन की तरह कवि की तटस्थता से उद्भूत न होकर कवि की सक्रिय ईमानदारी से ही उद्भूत है, अतः उसका मूल्य और भी बढ़ जाता है। संग्रह की कविताओं में कवि की ओर से कोई दुराव-छिपाव नहीं है। कुछ छायावादी रहस्य-वादी रचनाएँ हैं तो कुछ कविताएँ यथार्थ चित्रण से भी युक्त हैं, कुछ में प्रगतिवादी स्पर्श भी है।

संग्रह की कविताओं की दूसरी विशेषता उनकी सादगी और अभिव्यक्ति की सरलता है। कोई भी भाव हो सीधे और सरल शब्दों में कहने का ढंग केदार को खूब आता है। प्रासादिकता उनमें भरपूर है।

'नींद के बादल' की कविताएँ चार प्रवृत्तियों में विभाजित की जा सकती है।

(१) प्रेम सम्बन्धी रचनाएँ।
(२) प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ।
(३) छायावादी (रहस्यवादी) रचनाएँ।
(४) यथार्थवादी रचनाएँ।

प्रेम सम्बन्धी रचनाएँ कवि के वैयक्तिक प्रेम को लेकर चलती हैं। यद्यपि कवि ने नियम को बधिक कहकर उसके प्रति अनास्था व्यक्त की है तथापि उसका प्रेम ऐसा नहीं है जिसे सामाजिक मान्यता प्राप्त न हो। इस वैवाहिक प्रेम को तो प्रेमचन्द जी भी मान्यता दे देते जो केवल विवाह को ही प्रेम मानते थे। अस्तु, कवि ने जिन नियमों को बधिक और अनुदार कहा हैं—प्रतीत होता है कि वे सामाजिक न होकर पारिवारिक हैं—और भावुक कवि अपने काव्य के उषःकाल में परोक्ष रूप से परिवार की संस्था के विरुद्ध विद्रोह कर रहा है। भारतीय जीवन में परिवार का ढाँचा अभी भी सामन्ती प्रणाली से ही गठित है—जिसमें पति-पत्नी को स्वच्छन्द प्रेम के लिये कोई स्थिति नहीं रहती। अतः कवि नियमों के बंधनों को तोड़ देना चाहता है—द्वार खोल कर प्रेम-कोकिल को मधुर रटन के लिए स्वतन्त्र करना चाहता है।

'चाहिए मुझे प्रेयसि संग।
करूँगा बंधन भंग॥

❀ ❀ ❀

प्रेम हरिण सुकुमार।
नियम बधिक अनुदार॥
नियम के पिंजड़े में पड़कर।
प्रेम का कोकिल है अनमन॥
खोल दो द्वार! खोल दो द्वार!
सुनावे फिर वह मधुर रटन।'

प्रेम के इस स्वरूप को परिवार की संस्था से इसलिये जोड़ा गया—क्योंकि कवि का प्रेम विदाई के सम्बन्ध से उद्भूत गार्हस्थिक प्रेम है;

'मैंने प्रेम अचानक पाया
गया ब्याह में युवती लाने
प्रेम ब्याह कर संग में लाया।'

प्रम की कविता प्रिया और प्रियतम के आसपास चलती है, जिसमें कवि का अपनी प्रिया के प्रति आत्म-निवेदन तथा रति-सम्बन्धी अनेकों संचारी भावों की योजना है। कुछ भावनाएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें प्रायोगिक कहा जा सकता है। वे सारी प्रेम-सम्बन्धी रचनाएँ स्वाभाविक, सहज और निर्मल भाव-भूमि पर आधारित हैं। कवि कहता है:

'हम दोनों का प्यार रहे।
जिस दूर्वा पर हम तुम लेटे
कोमल हरित उदार रहे
रजनी की आँखों से जागृत
ईश्वर साक्षीकार रहे
तरु में प्रेम विकार लता में
पुलक वासना भार रहे
हम तुम दोनों को मद विह्वल
चुम्बन का अधिकार रहे
हम दोनों का प्यार रहे॥'

संग्रह की दो-तिहाई इन प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं के बाद कुछ प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएँ हैं। प्रकृति के चित्रण का कवि का ढंग वैविध्यपूर्ण है। कहीं प्रकृति पर स्वयं की मनःस्थिति का आरोप किया गया है। कवि तारिका के लिए कहता है:

'नीरव नभ की ओ मनोरम तारिका प्रिय प्राण
वेदना की यह कहानी है मधुर वरदान।'

कवि ने प्रभात का चित्रण यथार्थवादी ढंग से किया है:—

"यह उदास सा नीम खड़ा है मन को बिलकुल डाले
डाल-डाल की छाँह बिछी है सोते निर्मम छाले
नहीं झूमता एवरग्रीन ले लाल कुसुम के प्याले
खड़ा हुआ है जैसे तैसे अपनी साँस सम्भाले
मेरा छोटा सा कनेर प्यारा चुपचाप खड़ा है।"

कहीं-कहीं प्रकृति के माध्यम से कवि ने कर्म की चेतना जाग्रत करने का उपक्रम किया है:

"महाकाल का यात्री दिनकर
अस्ताचल की ओर चला
करके स्वर्ण विभूषित जगती का
नभ उन्नत भाल चला
जीवन-पथ का यात्री मानव
कालांचल की ओर चला
करके ध्वंस, पराजित, जगती का
रज चुम्बित भाल चला॥"

वैसे तो छायावादी कविताओं के अंतर्गत इस संग्रह की सारी कविताएँ ही आ जाती हैं, पर कवि के प्रेम की भावभूमि छायावाद के प्रेम की तरह अस्वस्थ तथा अतृप्तिमय नहीं है। अतः उन्हें इससे असम्पृक्त ही मानना चाहिए। संग्रह की तीन रचनाओं—'नभ की ओर निहार रहा था', 'अयि रूपसि अनजान', तथा 'वह कौन कहाँ रहता है ?' में रहस्यवादी का लड़खड़ाता स्वर है।

'अवसान' शीर्षक कविता कवि की यथार्थवादी मनोवृत्ति की ओर संकेत करती है, जिसमें यथार्थ को छायावादी शैली में व्यंजित करने का प्रयत्न किया गया है। अतः वस्तुसत्य की व्यंजना प्रभावशाली ढंग से नहीं हो सकी है—तदपि कुछ स्थल अच्छे बन पड़े हैं।

"दिन का कोल्हू फिर चला खूब
मिल कर मानव जला खूब'

'नींद के बादल' जैसा कि पहले कहा गया है कवि की प्रमुख कृति 'युग की गंगा' के बाद प्रकाशित हुआ। ये उसकी प्रारम्भिक रचनाओं का संग्रह है; जिसमें हमने देखा कि कवि के काव्य में सभी प्रकार की मनोवृत्तियाँ मौजूद हैं। अपनी बाद की कविताओं में कवि ने उन मनोवृत्तियों से संघर्ष कर पराजित एवं नष्ट किया है—जो ह्रासोन्मुख हैं—जैसे छायावादी और रहस्यवादी भावनाएँ तथा स्वस्थ और जनवादी मनोवृत्तियों को अधिक विकसित किया है।

इसी प्रकार शैली के भीतर पाये जाने वाले छायावादी प्रभाव को केदारनाथ ने 'युग की गंगा में' समूल नष्ट कर दिया है। 'नींद के बादल' की कविताओं की शैली पूर्णतया छायावादी है। हाँ, कहीं-कहीं देशज शब्दों के प्रयोगों के द्वारा वे अपनी यथार्थवादी मनोवृत्ति का परिचय दे देते हैं। जैसे—

'प्रेम की पूनो अति उत्तम।' या 'कोई जीव सिधारा जग से।' आदि। पर 'नींद के बादल' में यह बहुत कम है। वरन् सारी रचनाओं पर प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी की पूरी-पूरी छाप है। गीतों में तो यह प्रभाव और भी अधिक उभरा है। किन्तु 'युग की गंगा' की रचनाओं में कवि ने अपनी जितनी स्वस्थता और भाव तथा शैलीगत मौलिकता का परिचय दिया है, उसे देख कर यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि 'नींद के बादल' के कवि का ही विकास 'युग की गंगा' की रचनाओं में हुआ। ऐसा लगता है जैसे इन दोनों संग्रहों की संयोजक (बीच की) कड़ियाँ ग़ायब हैं। इसीलिये 'नींद के बादल' तथा 'युग की गंगा' के कवि के व्यक्तित्व दो पृथक् व्यक्तित्व हैं और यह प्रतीत नहीं होता कि 'युग की गंगा' के कवि का व्यक्तित्व 'नींद के बादल' के कवि का ही विकसित रूप है। 'नींद के बादल' के कवि का व्यक्तित्व अपनी पूरी ईमानदारी के साथ भी बहुत छोटा है—एक नाबालिग़, सुकुमार किशोर-सा। 'युग की गंगा' के कवि का व्यक्तित्व अपेक्षाकृत काफ़ी विशाल है, उसमें भगीरथ-निष्ठा व्याप्तमान है।

'युग की गंगा' हिन्दी कविता के विकास का ऐतिहासिक मार्गचिह्न है। विषय-वस्तु और टेकनीक दोनों की ही दृष्टि से कवि ने हिन्दी कविता को एक बिलकुल नवीन भूमि पर खड़ा कर दिया है। उसका यह प्रयास अभिनव तो है ही—उसमें भारतीय जीवन की यथार्थ चेतना की जो संयोजना है वह हिन्दी कविता के एक नवीन चरण—उसकी नव गति की परिचायक है।

'युग की गंगा' का कवि जीवन, सौंदर्य और मनुष्यता का कवि है। उसके काव्य की भावभूमि जीवन के यथार्थ से सम्पृक्त है। उसकी सौंदर्य-चेतना जीवन की संघर्षशीलता से परिचालित है। कवि जीवन के संघर्षशील स्वरूप पर मुग्ध है। वह जिन्दगी की कठोरता में एक महान् सौंदर्य की रूप-राशि बिखरी हुई देखता है। वह जीवन के इस अभिनव, कठोर और संघर्ष-शील स्वरूप पर मुग्ध इसलिये है, क्योंकि यही जीवन का वह हिस्सा है जिसे सही रूप में जीवन का वह हिस्सा कहा जा सकता है, जो मौत के ऊपर होने वाली विजय का प्रतीक है। 'जो जीवन' कविता में कवि की यही सौंदर्य चेतना अभिव्यक्त हुई है :

'कली निगाह में पली,
हिली डुली कपोल में।
हृदय प्रदेश में खिली,
तुली हँसी की तौल में॥

गरम गरम हवा चली,
अशांत रेत से भरी;
हरेक पाँखुरी जली,
कली न जी सकी मरी ॥
बबूल आप ही पला,
हवा से वह न डर सका,
कठोर ज़िन्दगी चला,
न जल सका न मर सका।'

कवि के सौंदर्य सम्बन्धी दृष्टिकोण की दूसरी जो बड़ी विशेषता है—उसकी सौंदर्यपरक भावना का व्यापक धरातल पर निर्मित होना। इस सर्वव्यापी भावना की आधार-भूमि कवि की मानवतावादी दृष्टि है। इस दृष्टिकोण ने कवि की सौंदर्य-दृष्टि को अधिक पुष्ट, शक्तिवान् और जीवन वास्तव से परिपोषित किया है जिसके कारण कवि की सौंदर्य-दृष्टि कल्पनामूलक आदर्श की न होकर यथार्थोन्मुखी है, वस्तु-जगत से उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। बुर्जुआ सौंदर्य-शास्त्र की शब्दावली में जिसे असुन्दरता और कुरूपता कहा जाता रहा है, क्योंकि आदर्शवादी सौंदर्य-दृष्टि सदैव ही वस्तु-जगत् को कुरूप, गँदला, असुन्दर कह कर काल्पनिक जगत की सृष्टि करती रही है—क्योंकि उनका जीवन से लगाव नहीं था। वे जीवन को बदलना नहीं चाहते थे। उनकी सौंदर्य पर एक दृष्टि दर्शन की तरह भरपेट लोगों की दिमाग़ी ऐयाशी मात्र रही। केदारनाथ ने अपनी व्यापक और सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि से जीवन को देखा है और उसे बड़ी ही कलात्मकता के साथ शब्दों में बाँध दिया है। कत्था, चूना, लौंग, सुपारी और तम्बाकू खाकर पीक उगलने वाले और गुड़गुड़-गुड़गुड़ हुक्का पीकर धुँआ उड़ाने वाले, बिना तेल-कंघी के सूखे बाल उलझाये हुये, फटे, मैले और बदबूदार कपड़े पहने, जूठी बीड़ियों के टुकड़े पीते हुए शहर के लड़के सभी उनके काव्य में साकार हो गये हैं। कवि की इसी व्यापक दृष्टि के कारण उसकी कविताओं का 'कन्टेन्ट' काफ़ी व्यापक हो गया है। प्रगतिवादी कविता की विषय वस्तु पर संकुचितता का आरोप करने वालों के लिये 'युग की गंगा' एक चुनौती है। यह विषय-वस्तु प्रकृति के मोहक दृश्यों की सृष्टि करने वाली बासंती हवा, गेहूँ आदि प्रकृति सम्बन्धी कविताओं से लेकर, ऑर्डिनेंस, जनमत आदि राजनैतिक रचनाओं, अमीनाबाद, मूलगंज और कानपुर के शहरी चित्रण से लेकर चैतू मछुवाहे और बुन्देलखण्ड के आदमियों के जातीय चित्रण, देव-मूर्त्ति, चित्रकूट के यात्री, देवताओं की आत्महत्या आदि की धर्म (अफीम), विरोध

भावनाओं से लेकर धरती करोड़ों का गाना आदि रचनाओं की समाजवादी चेतनाओं तक की व्यापक भावभूमि को अपने में समाहित करके चल रही है। 'युग की गंगा' अपने युग की, अपनी जाति की, चेतना की सही प्रतिच्छवि है।

केदारनाथ यथार्थवादी कवि हैं। सामाजिक जीवन के विविध अंत-र्विरोधों के पार सत्य के वास्तविक रूप तक उनकी दृष्टि जाती है। उनकी कविताओं का व्यापक 'कैनवास' उनके युग-दर्शन का परिचय है।
'युग की गंगा' की रचनाएँ मोटे तौर पर तीन भागों में विभाजित की जा सकती है:

(१) प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ
(२) यथार्थवादी रचनाएँ
(३) जनगीत

प्रकृति सम्बन्धी रचनाओं के अंतर्गत इस संग्रह की प्रमुख रचनाएँ आ जाती हैं जिनमें 'गेहूँ' 'चन्द्रग्रहण से लौटती बेरी' 'बासंती हवा' सावन का दृश्य' आदि प्रमुख हैं। कवि ने प्रकृति का चित्रण करते हुए उसमें से जीवन के शौर्य, शक्ति और बलिदान की व्यंजना की है। गेहूँ का चित्रण करते हुए कवि लिखता है:

'आर-पार चौड़े खेतों में
चारों ओर दिशाएँ घेरे
लाखों की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है।
ताक़त से मुट्ठी बाँधे है
नोकीले भाले ताने हैं;
हिम्मत वाली लाल फौज सा
मर मिटने को झूम रहा है।
अंतिम बलिदानों से अपने,
सबल किसानों को करता है।'

'युग की गंगा' में प्रकृति के किसानी स्वरूप का चित्रण दिया गया है। प्रकृति का कवि ने जो मानवीयकरण किया है—उसे अपनी भावना के आरोप द्वारा कहीं दूषित नहीं किया है। वरन् प्रकृति में जातीय भावना और संस्कारों को मूर्त्त रूप दिया है। प्रकृति में भारतीय किसान के ये साकार रूप लेते हुए संस्कार किसे नहीं मोह लेंगे।

'एक बीते के बराबर,
यह हरा ठिगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का—
सज कर खड़ा है ।
और सरसों की न पूछो
हो गयी सबसे सयानी
हाथ पीले कर लिये हैं
ब्याह मंडप में पधारी
फाग गाता मास फागुन
आ गया है आज जैसे ।
देखता हूँ मैं स्वयंबर हो रहा है
प्रकृति का अनुराग चंचल हो रहा है ।'

कवि के प्रकृति-चित्रण की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें कवि ने अपनी भावनाओं को बड़े ही उन्मुक्त रूप से प्रकट किया है। इस अभिव्यक्ति में एक मस्ती है जो हमें 'बासंती हवा' शीर्षक कविता में मिलती है । उसमें जीवन का संगीत है ; वह बड़ी ही बावली और मस्तमौला है, जो धरा का बासंती संगीत युगों से गुंजाती फिरी है । हवा कहती है...

"चढ़ी पेड़ महुआ, थपाथप मचाया,
गिरी धम्म से फिर,
उसे भी झकोरा
किया कान में कू
उतर कर भगी मैं
हरे खेत पहुँची
वहाँ—गेहुँओं में
लहर खूब मारी
पहर को पहर क्या
अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं ।
पथिक आ रहा था
उसी पर अकेला
लगी जा हृदय से

कमर से चिपक कर
हँसी ज़ोर से मैं
हँसी सब दिशाएँ
हँसे लहलहाते
हरे खेत सारे
हँसी चमचमाती
भरी धूप प्यारी
बसंती हँसी में
हँसी सृष्टि सारी।"

यथार्थवादी रचनाओं में इस संग्रह की सबसे अधिक रचनाएँ आ जाती हैं और इसीलिये कवि के काव्य में यथार्थ का स्वर सबसे ऊँचा है, जो कल्पना की आकाशचारिता का निषेध करता हुआ काव्य को जीवन की सशक्त प्रेरणा प्रदान करता है। जीवन का सत्य ही काव्य में शक्ति, प्रेरणा और उत्साह की चेतना उत्पन्न कर सकता है। कवि जीवन सत्य का द्रष्टा तथा उसका कुशल अभिव्यक्ता है। 'आज', 'देश की आशाएँ' 'देव-मूर्त्ति' 'सोने के देवता' 'चित्रकूट के यात्री' 'गुड्डा' 'स्वप्नद्रष्टा से' 'शहर के छोकरे' 'मूलगंज' 'बुन्देलखण्ड के आदमी' आदि संग्रह की अधिकांश कविताएँ यथार्थवादी हैं। यथार्थवाद सर्वत्र एकसा नहीं है। कहीं वह शैलीगत है, कहीं वस्तुगत। कहीं-कहीं इस यथार्थ को व्यंग्य के मध्यम से प्रेषित किया है और इस प्रकार जनता की चेतना पर हावी सामंती संस्कारों का उपहास किया है। 'देवमूर्त्ति' शीर्षक रचना में कवि ने ईश्वर को करुणा-सागर समझने की भावना पर प्रहार किया है।

"छोटी सी देवमूर्त्ति
आले में रक्खी थी
बेचारी औचक ही
चूहे के धक्के से
दाँसा के पत्थर पर
नीचे गिर, टूट गई
ताज्जुब है मुझको तो
करुणा के सागर के
अन्तर की एक बूंद
भूमि पर न छलकी।"

कवि मूर्त्तिपूजा की प्रथा को माध्यम बना कर जन-मानस में स्थित ईश्वर को करुणा-सागर समझने के संस्कार पर प्रहार करना चाहता है। चित्रकूट के यात्रियों को कवि ने इस प्रकार से चित्रित किया है :

"चित्रकूट के बौड़म यात्री
सतुआ, गुड़ गठरी में बाँधे
गठरी को लाठी पर साधे
लाठी को काँधे पर टाँगे;

* * *

जैसे गुड़ के लोभी चींटे
लम्बी एक क़तार बनाके
अपने-अपने बिल से निकले
बंडी काली तेलही पहिने;
धोती ओछी गंदी पहिने
गंदे जीवन के अधिकारी।"

अपने आस-पास के जीवन का कवि ने अत्यन्त सजीव तथा वास्तविक चित्रण किया है जो उसके सूक्ष्म दर्शन का परिचायक है। बुन्देलखण्ड के जीवन तथा जनता की चेतना के स्तर को कवि ने बड़ी ही पारदर्शिता से देखा और कुशलता से ऐसे चित्र अंकित किए हैं जिसमें जनता के जीवन को समझना अत्यन्त सरल हो गया है। हट्टे-कट्टे तथा चौड़ी चकली काठी वाले आदमी केवल खाते पीते जाते हैं। देखिये :

"हट्टे-कट्टे हाड़ों वाले
चौड़ी चकली काठी वाले
थोड़ी बाड़ी खेती रक्खें
केवल खाते पीते जाते।
कत्था चूना लौंग सुपारी
तम्बाकू खा पीक उगलते
चलते फिरते बैठे ठाड़े
गन्दे रंग से धरती रँगते
गुड़गुड़ गुड़गुड़ हुक्का पकड़े
खूब धड़ाके धुआँ उड़ाते
फूहड़ बातों की चर्चा के
फव्वारे फैलाते जाते

कवि के इस यथार्थ चित्रण के पीछे उसके सूक्ष्म दर्शन के साथ ही वास्तविकता का वह प्रायोगिक भाग है जो काव्य के वस्तु-विधान में एक अभिनव रस की सृष्टि करता रहता है, जिसे काव्यालोचक ग्रामीणता का पुट कहते हैं, डॉ० रामविलास ने जिसे काव्यगत भदेसपन कहा है, जो प्रतापनारायण मिश्र आदि भारतेंदु-कालीन कवियों में बहुतायत से पाया जाता है और जो काव्य के लिये सदा ही एक प्रायोगिक चेतना के रूप में कार्य करता है। हिन्दी काव्य में स्फुरणशील प्रायोगिक चेतना के 'कन्टेन्ट' को यदि हम शहरी और ग्राम्य इन दो भागों में विभक्त करें तो कहना होगा कि यन्त्र-युग के प्रवेश के साथ शहरी जीवन में जो परिवर्तन तथा जीवन का रूप स्थिर हुआ उस नवीन वास्तविकता को अभिव्यक्त करने का श्रेय गिरजाकुमार माथुर को है। उनकी 'शाम की धूप' कविता अपने 'कन्टेन्ट' की प्रायोगिकता में बेजोड़ हैं। उसी प्रकार ग्राम्म-जीवन की वास्तविकता के प्रायोगिक काव्य को केदारनाथ ने काव्य के कलेवर में बाँधा है। सामंतवाद को खर्व कर गाल बजाती नई सभ्यता का चित्र देखिये :

'प्यार पारावार बारम्बार पाकर
अब न तार सितार तनते
लीन अंतर्गीत के मदमीन में हो
बीन के न विहाग तरते।
राव रंगी, भाव भंगी, केलि रंगी
स्वर सरंगी के न सजते।
आज बर्बर क्रूर विश्व-भर में
सभ्यता के गाल बजते ॥'

सामूहिक रूप से गाये जा सकने योग्य कुछ गीत संग्रह के अन्त में दिए गये हैं, जिनमें हिन्दुस्तान में कोटि-कोटि जनता की संघर्षशील चेतना को संगीत के सूत्र में पिरो कर प्रतिबिम्बित किया गया है। कवि केदार के लिखे हुए गीतों की यह प्रमुख विशेषता है कि वे छायावादी कवियों के आत्मकेंद्रित गीत न होकर विराट् सामूहिक भावना को अभिव्यक्त करते हैं। कुछ प्रगतिवादियों ने जो गीत लिखे उनमें प्रगति, जीवन और मानव के आत्मविश्वास का स्वर दृढ़ होने पर भी उनमें एक आत्मकेन्द्रिकता पाई जाती रही—जो परम्परागत है। जैसे कवि शिवमंगल सिंह के 'जीवन के गान' के कुछ गीत, जिनमें छायावाद की आत्मकेन्द्रिक

शैली का प्राधान्य है। हाँ, विषय वस्तु की नवीनता पाई जाती है। केदारनाथ के विषय में जैसा कि पूर्व कहा गया, हिन्दी के अन्य सभी कवियों की अपेक्षा वे अधिक सफल हुए हैं और इसका कारण उनकी ग्राम्य-जीवन से निकटता, यथार्थभेदिनी दृष्टि तथा उनका महान् जनवादी दृष्टिकोण है।

सामूहिक गीतों का संगीत लय की सामूहिक चेतना पर अवलम्बित है। अतः अधिकांश पंक्तियों की आवृत्ति बार-बार होती है। 'करोड़ों का गाना' शीर्षक रचना की ये पंक्तियाँ देखिए :

'हरेक तार साँस का बजाए चल
बजाए चल, बजाए चल, बजाए चल।
हज़ारों आदमी का दल,
हज़ारों औरतों का दल,
हज़ारों बालकों का दल,
तड़फ-तड़फ के है विकल,
नवीन जोश, ज़िन्दगी जगाए चल
जगाए चल, जगाए चल, जगाए चल ॥

सभी का मन ग़ुलाम है,
सभी का मन ग़ुलाम है,
सभी की मति ग़ुलाम है,
सभी की गति ग़ुलाम है,
ग़ुलामियों के चिह्न को मिटाए चल
मिटाए चल, मिटाए चल, मिटाए चल ॥'

कवि ने किसान में एक अद्भुत आत्मविश्वास और दृढ़ आस्था की स्थापना की है। वह युग की निद्रा को खोने वाला नवयुग का वाहक है। वह गेहूँ-चना नहीं, वरन् खूनी अंगारे बोता हुआ दिखाया गया है :

'मेरे खेत में हल चलता है,
मैं युग की निद्रा खोता हूँ,
गेहूँ चना नहीं बोता हूँ,
खूनी अंगारे बोता हूँ ॥'

क्योंकि वह एक नई ज़िन्दगी का प्रेमी है। वह ज़िन्दगी की नई व्याख्या नहीं कर रहा है—क्योंकि आज सवाल ज़िन्दगी की व्याख्या करने का

नहीं, उसे बदलने का है। अतः आज जबकि "मनुष्य ही मनुष्य का बिका हुआ गुलाम है"—कवि कहता है :

'हरेक नौजवान को यही
यही पयाम है

❀ ❀ ❀

महान् क्रान्ति का विधान
ज़िन्दगी का नाम है।'

यहाँ दो शब्दों में कवि की कविताओं के 'फॉर्म' पर कहना भी आवश्यक है। केदारनाथ की कविताओं में कला के जिन रूपों की संयोजना की गई है उनमें सर्वहारा कला के दो प्रमुख तत्त्वों का मिश्रण है। इसीलिए कला के वर्गरूप की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि प्रस्तुत संग्रह की कविताएँ कला में समाजवादी यथार्थवाद को व्यक्त करने की आकांक्षा में विरचित हैं। अतः उनमें तीन प्रमुख विशेषताएँ उभर कर आई हैं।

सर्वप्रथम कला का वह जातीय रूप जिसे अंग्रेजी में Local colour कहते हैं—केदारनाथ में खूब मिलता है, जिसकी नियोजना के लिए कवि के पास भाषा, भाव और अभिव्यंजना का अतुल भण्डार है। बुंदेलखण्ड के ये दो विवाह के चित्र देखिए—जिनसे प्रकृति भी अछूती नहीं रही :

'एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर—
छोटे गुलाबी फूल का
सज कर खड़ा है।

× × ×

और सरसों की न पूछो
हो गई सब से सयानी
हाथ पीले कर लिए हैं
ब्याह मंडप में पधारी।'

देशी शब्दों के प्रयोगों के द्वारा यह रंग और भी उभर कर आता है। इसीलिए कवि धड़ल्ले से 'बीते', 'सेतुआ', 'अधरम', 'दौंसा', 'भउहर', 'ठाड़', 'ठिगना', 'पुरखिन', 'भिसारे', आदि शब्दों का प्रयोग करता है। कुल बुन्देलखंडी के मुहावरों का प्रयोग भी कवि ने किया है। जैसे :

(१) जैसे गुड़ के लोभी चींटे
लम्बी एक कतार बनाके
अपने-अपने बिल से निकले

(२) कंडा हो रही थीं आँखें कितनों की।

(३) ढेला-सी बड़ी-बड़ी आँखें लिए।

सारे संग्रह में कवि ने अनेक प्रकार के छंदों के प्रयोग किए हैं। जो कवितायें मुक्त छंद में हैं वे भी पूर्णतया लय की साधना पर आधारित हैं। सारे संग्रह में केवल एक स्थान (पृष्ठ १०) को छोड़कर कहीं भी लय भंग नहीं होती। छंद सभी भावों के अनुकूल चुने गये हैं। जहाँ उल्लास की भावना व्यंजित करना अपेक्षित है—वहाँ प्राय: छोटे छंद चुने गए हैं, जैसे 'वासंती हवा' शीर्षक कविता में। जहाँ जोश तथा उत्साह की व्यंजना है वहाँ प्राय: बड़े छंदों का प्रयोग किया गया है। कंधा रगड़ते हुए इस छंद के प्रसार को आगे बढ़ते हुए देखिए—

'ज़िन्दगी की भीड़ में कंधा रगड़ने
और चलने से परे हो।
आदमी की आफ़तों से आदमी की मौत से
एकदम डरे हो॥
रेंगते हैं नाग बस्ती में धुएँ के
देखकर तुम भाग आये।
खून आँसू का पसीना कर
धरातल दूर पीछे त्याग आये॥'

कवि ने भूमिका में लिखा है—"अब हिंदी की कविता न 'रस' की प्यासी है न 'अलंकार' की इच्छुक है: और न संगीत की तुकांत की भूखी है।" यह सब होते हुए भी कवि केदारनाथ की कविता न तो रस-मुक्त हो सकी न अलंकार से असंपृक्त और न संगीत से दूर ही। नए-नए उपमानों की सृष्टि उनकी रचनाओं में मिल जाएगी। ऐसे बहुत कम स्थान मिलेंगे जहाँ वे अलंकारों से पीछा छुड़ा सके हों, क्योंकि अलंकार कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे कविता को मुक्त किया जावे। वे तो कवि-प्रतिभा के स्फुरण के सहज प्रतीक हैं। अनुप्रास और रूपक के प्रयोग कवि ने सर्वाधिक किए हैं। रूपक के भिन्न प्रयोग के द्वारा सावन की मटमैली जलधारा का चित्र कितने सुन्दर रूप में उभर कर सम्मुख आता है—

'मोती जैसी बूंद बरसी
धरती पर जलधारा बरसी
झाग भरे लाखों मटमैले
फन फैलाए अहिगन सरके।'

कवि ने कई जगह विषय की अभिव्यक्ति के लिए तरीक़ों को माध्यम चुना है, जिनसे प्रस्तुत विषय अधिक खुलकर उभर आया है। कवि ने जीवन में व्याप्त जटिलताओं और घुटन को अभिव्यक्त करने के लिए धुएँ के नाग के प्रतीक का सहारा लिया है :

'रेंगते हैं नाग बस्ती में धुएँ के
देखकर तुम भाग आए।'

केदारनाथ के काव्य-विकास की ये दो मंज़िलें हैं जिनमें कवि के दो रूप स्पष्ट हैं। वे सन् १६२६ से लिख रहे हैं। हिन्दी की काव्य-परिपाटी का उनके काव्य पर पूरा-पूरा असर है—क्योंकि एक अर्से तक वे कवित्त-सवैयों की प्राचीन परिपाटी की शैली पर बहते रहे हैं। 'युग की गंगा' पर इसका प्रभाव स्पष्ट है। इसलिए 'युग की गंगा' का महत्त्व और बढ़ जाता है। उसमें कवि के कथनानुसार जहाँ जनता के मोर्चे की प्रतिध्वनि है, वहीं अतीत की जाग्रत और प्रसरणशील चेतना भी स्पन्दनशील है। 'युग की गंगा' के जल के प्रवाह के नीचे और किनारों पर अतीत की उपजाऊ मिट्टी बिछी हुई है—यह इन कविताओं की प्रक्रिया से स्पष्ट होता है।

हिन्दी को कवि से बहुत-बहुत आशाएँ हैं। एशिया की संघर्ष-निरत जनता अपने वैतालिक कलाकार से आशाएँ रखती हैं। हमारा युग महान् संभावनाओं का युग है—और हम मानवता के लिए महान् आशाएँ लेकर चल रहे हैं। केदारनाथ इन्हीं का सक्षम वाणी-दाता है।

कविवर नागार्जुन

आधुनिक हिन्दी के सामाजिक दृष्टि से जागरूक कवियों में नागार्जुन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने काव्य क्षेत्र में प्रवेश कर जो परिवर्त्तन तथा कला के वर्ग स्वरूप को प्रस्तुत किया है—उससे हिन्दी कविता में एक नई धारा का प्रवर्त्तन हुआ है। वे इस धारा के अगुआ होने के नाते उनके काव्य में इस धारा की सभी शहजोरियाँ अभिव्यक्त हुई हैं; यह धारा हिन्दी की सर्वहारा कविता की धारा है।

छायावाद के बाद प्रगतिवाद का जो स्वरूप हमारी नज़र के सामने आया था वह अपने मूल रूप में यह कमजोरी लेकर आगे बढ़ा था कि उसने साहित्य में अदा होने वाली मज़दूर-वर्ग की भूमिका को भुला दिया था, जब कि प्रगतिवाद साहित्य में मज़दूर-वर्ग की अग्रगामी संघर्षशील चेतना की अभिव्यक्ति है। इसलिए प्रगतिवाद का प्रारम्भिक स्वरूप मध्यम-वर्ग की बौद्धिक सहानुभूति पर आधारित है। सक्रिय सहयोग और जन-आन्दोलन में बढ़कर भाग लेने की चेतना उस समय विकसित नहीं हुई थी। अतः इस समय हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने निम्नवर्ग के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की तथा उसका काव्य में चित्रण किया। इस समय ये सभी लोग प्रगतिवादी कहे जाने लगे।

कालान्तर में जनता का संघर्ष आगे बढ़ा। तदनुसार प्रगतिशील काव्य के स्वरूप में परिवर्त्तन तथा विकास परिलक्षित हुआ। जो लोग मज़दूर-वर्ग से मात्र सहानुभूति प्रकट करते रहे थे वे मज़दूर-वर्ग के आगे आने वाले आन्दोलन में न केवल भाग ले सके, वरन् उन्होंने उनके संघर्ष के रास्ते को ही छोड़ दिया। इस प्रकार के लोगों ने पथभ्रमित हो कर वर्ग सहयोग के नाम पर शासक वर्ग का गुणकीर्त्तन प्रारम्भ कर शब्दों का एक नया इंन्द्रजाल तैयार किया जो हिन्दी में अरविन्दवाद कहलाने लगा। किन्तु इस संघर्ष के दौरान में एक नई काव्य-धारा का जन्म हुआ जो कि हिन्दी साहित्य के विकासोन्मुखी तत्त्वों का स्वाभाविक विकास है।

इस धारा की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। यह धारा साहित्य में मज़दूर वर्ग की न केवल हिमायत करती है वरन् बड़ी ही मुस्तैदी से उसके संघर्ष को अपने में झलकाती है। मज़दूर वर्ग की अंतिम विजय में दृढ़ आस्था

रखे हुए इस वर्ग के कवि एक अभिनव मानव-समाज के निर्माण की महान् कल्पना को साकार रूप देने के लिये संकल्पबद्ध हैं। रूपात्मक दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि यह कला के वर्ग रूप को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है। इसी धारा के काव्य को देखकर वे आलोचक जो कला के वर्ग रूप से परिचित नहीं हैं—प्रगतिवादी धारा पर कलाहीनता का आंरोप लगाने से नहीं चूके हैं। कला के वर्गीय स्वरूप के विवेचन का यहाँ स्थान नहीं। यहाँ तो इस नवीन कविता-धारा की रूपात्मक योजना पर ही विचार करना इष्ट है। यह नारा संघर्षों में तपती हुई आगे बढ़ी है। इसीलिए उसमें संघर्ष में तपने वाले मजदूर के जीवन की सादगी, कठोरता, सुलझापन तथा स्पष्टता वर्त्तमान है। दूसरे वह हिन्दी-उर्दू की एक मिली-जुली परम्परा को आगे बढ़ाती है। तीसरे वह देशज शब्द के प्रयोग द्वारा यथार्थ चित्रण की ओर प्रयत्नशील है। 'जनभावना के अनुकूल जनभाषा के प्रयोग' के सिद्धान्त को लेकर वह आगे बढ़ी है।

सन् १९४७ के बाद हिन्दुस्तान के जन-आन्दोलन ने एक दूसरी करवट बदली है। वर्ग-विरोध के महान् ऐतिहासिक सिद्धान्त पर आधारित यह आन्दोलन अत्यन्त क्षिप्र गति से आगे बढ़ रहा है। हिन्दुस्तान की विशाल जनता और शासक वर्ग में विरोध बढ़ता ही जा रहा है और क्रमशः शासक वर्ग और देश की महान् जनता में होने वाला यह संघर्ष दुनियाँ के लिये निर्णायक बनता जा रहा है। आज का शासक वर्ग जहाँ पूँजीवादी और अमरीकी डालरवाद से बँध चुका है—हिन्दुस्तान की जनता राष्ट्रीय स्वाधीनता के महान् लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अपने फौलादी चरण आगे बढ़ाती इतिहास का रास्ता तय कर रही है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी यह स्थिति है। अरबों अमरीकी डालरों की मदद के बावजूद चीन में होने वाली जनता की विजय ने साम्राज्यवादियों के कैम्प में संकट उत्पन्न कर दिया है। संकटग्रस्त विश्व पूँजीवाद अपने साम्राज्यवादी स्वरूप को क़ायम रखने के लिये युद्ध, हिंसा, बर्बरता, दमन और बीभत्स अत्याचार पर उतर आया है, किन्तु फिर भी जनता के शान्तिवादी मोर्चे की ताक़त अधिक मज़बूत हुई है यह स्पष्ट है।

नागार्जुन के काव्य के विकास को समझने के लिये यह भूमिका इसलिये आवश्यक हुई क्योंकि नागार्जुन का काव्य और हिन्दुस्तान की जनता का आन्दोलन परस्पर जुड़े हुए रूप में आगे बढ़े हैं।

संघर्ष जीवन का प्रेरणा-स्रोत है। वह कर्म का प्रदेश है, जहाँ से

चिन्तन और मनन करने के लिए सही दिशा मिलती है। संघर्ष में तपकर जो चिन्तन आगे बढ़ता है, उसमें जीवन और सौंदर्य के प्रति सच्चा प्यार रहता है। नागार्जुन का काव्य संघर्षों में आगे बढ़ा है। इसी संघर्ष ने उन्हें एक जीवन-दर्शन तक पहुँचाया है—एक अभिनव दृष्टि प्रदान की है।

नागार्जुन में जीवन और सौन्दर्य के प्रति अपार प्रेम है। आधुनिक युग में जीवन की जो त्रस्त स्थिति है, उसे देख कर उनका कवि-हृदय अत्यन्त क्षुब्ध है। वह जीवन की उन्मुक्त किलकारियाँ लेता हुआ, लोरियों में झूलता हुआ, तृण, लता, तरु की हरियाली में विहँसता हुआ देखना चाहता है।

"सामने सरपट पड़ा मैदान
है न हरियाली किसी भी ओर
तृण लता तरु हीन
नग्न प्रान्तर देख
उठ रहा सिर में बड़ा ही दर्द
हरा, धुंधला या कि नीला
आ रहा चश्मा न कोई काम
किन्तु मुझको हो रहा विश्वास
यहाँ भी बादल बरसने जा रहा है आज
अब न सिर में उठेगा फिर दर्द
लग रहा था आज प्रातःकाल पानी सर्द
गंगा नहाते वक्त,
आया ख्याल
हिमालय में गल रही है बर्फ़
आज होगा ग्रीष्म ऋतु का अन्त।"

हिमालय की बर्फ़ पिघलेगी और ग्रीष्म की विभीषिका का अन्त होगा। जीवन के नये अंकुर फूटेंगे, वागमती की धार भर जायगी। पोखरों में कुमुद, पद्म उत्पन्न होंगे।

किन्तु यह होगा कैसे ? जीवन का मूल आधार समाज की अर्थ-व्यवस्था है। जब तक वर्त्तमान अर्थ-व्यवस्था में परिवर्त्तन नहीं होता तब तक जीवन की यह उत्कट लालसा अपूर्ण है। इस अपूर्ण किन्तु उत्कट लालसा को पूर्ण करने के लिए हमें साम्राज्यवाद को समाप्त करना ही होगा। क्योंकि हमारे आधुनिक जीवन में छाई हुई विभीषिका का कारण विश्व का पतनोन्मुख

पूंजीवाद तथा युद्धोन्मत्त साम्राज्यवाद है। आज संसार की स्वतन्त्रता-प्रेमी जनता साम्राज्यवाद के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष कर रही है।

देश की वर्त्तमान असहाय अवस्था से उनका हृदय पीड़ित है। उनके काव्य में इसीलिए देश-भक्ति का स्वर प्रधान है। देश-प्रेम से उत्पन्न आत्मवेदना उनके काव्य में जगह-जगह फूट पड़ी है। कहीं-कहीं उसमें व्यंग्य का तीखापन, कहीं करुणा की सघन छाया तथा कहीं परिस्थितियों को बदल देने के लिए संघर्ष की भावना व्याप्त है। एक तीखी अन्तर्व्यथा का चित्र देखिए :

"भैया लन्दन ही पसन्द है आज़ादी की सीता को।
नेहरू जी अब उमर गुजारेंगे अंगरेज़ी खेलों में।

देश की दुर्दशा पर उनके हृदय का यह दर्द ठीक भारतेन्दु की तरह का ही है। परन्तु नागार्जुन ने भारतेन्दु की तरह केवल मात्र करुणा की ही व्यंजना नहीं की, वरन् परिस्थितियों को बदल देने का महान् संकल्प भी उनके पास है जिसने उनके काव्य में संघर्ष की शक्ति नई भावना को जन्म दिया है।

जैसा कि पहले कहा गया नागार्जुन का काव्य और हिन्दुस्तान का जन-संघर्ष परस्पर जुड़े हुए आगे बढ़े हैं। १५ अगस्त सन् १९४७ से हमारे जन-संघर्ष ने एक नई दिशा ली है। प्रस्तुत आज़ादी ने कांग्रेस के नेताओं द्वारा 'विदेशी साम्राज्यवाद से गंठबंधन' हुआ, जिसमें देश के सामन्ती तत्त्वों को भी सुरक्षित रखा गया। देश को एक ओर तो कॉमन्वेल्थ के शिकंजे में फँसा दिया गया और दूसरी ओर रक्त-शोषक सामन्तवादी तत्त्वों को एक नये रूप में विकसित करने के साधन प्रस्तुत किये गये। देशी रजवाड़ों के नरेशों को एक अप्रजातांत्रिक प्रथा के द्वारा राजप्रमुख बना कर जनता की आकांक्षा के विपरीत क़ायम रखा गया। ज़मींदारों और जागीरदारों को आज भी एक बड़ी रक़म मुआवज़े में देकर एक नये सूदखोर वर्ग को जन्म दिया जा रहा है। नागार्जुन ने इस प्रकार की आज़ादी को जनता के साथ विश्वासघात तथा उसके संघर्ष की पीठ में छुरा भोंकना कहा है :

"आज क्या है
कुछ नहीं, बस
जन्म दिन शिशु राष्ट्र का है।

आज ही तुम मिल गये थे दुश्मनों से, गुनहगारों से
छोड़ कर संघर्ष का पथ
भूल कर अन्तिम विजय की घोषणाएँ
झोंक कर लम्बा छुरा तुम सर्वहारा जन-गणों की पीठ में
लड़खड़ा कर गिर पड़े थे आज ही के रोज़
रेशमी तीन-रंगे गदेले पर
तख्तये ताऊस पर।"

प्रस्तुत व्यवस्था में सरदार पटेल द्वारा देशी रजवाड़ों को मिला कर उनके स्थान पर वंशानुगत श्रेष्ठता के अप्रजातान्त्रिक सिद्धान्त पर राजप्रमुख पद की सृष्टि की गई। इस प्रकार की गृह-शान्ति के याज्ञिक सरदार पटेल के इस कार्य की प्रशंसा ने जनता को एक विचित्र चकाचौंध में डाल दिया था। रजवाड़ों के इस पुनरुद्धार पर व्यंग्य करते हुए कवि ने लिखा है :

"लौह पुरुष के प्रखर परुष उद्गार
आह नेहरू वाह नेहरू
वाह तुम्हारी यह अपनी सरकार
किया खूब है तुमने रजवाड़ों का जीर्णोद्धार
नई नहीं है नये सिरे से गड़ी हुई हैं
खूब तेज है धार
राजप्रमुख चूमा करते हैं एक दूसरे की लम्बी तलवार
सूर्यवंश की, चंद्रवंश की ठूठों में से फूट रही हैं नई कोंपलें"

तैलंगाने में हुये इस कृषक-विद्रोह की एक राजनैतिक भूमिका है, जिसका सम्बन्ध हिन्दुस्तान की भूमि समस्या से है। जब तक इस महत्त्वपूर्ण समस्या का स्थायी हल नहीं होता; न तो देश की जनता को राहत ही मिल सकती है, न समृद्धि की कल्पना ही की जा सकती है। धरती सदा जोतने वाले पर निर्भर है। सदियों से शोषण करने वाले ज़मींदार को मुआवज़ा देना न्याय-संगत नहीं है। हिन्दुस्तान की दशों दिशाओं में गूंजने वाले इस स्वर को उन्होंने शब्दों में पिरो दिया है :

"ऊबड़-खाबड़ बालू वाली धरती बंजर या ऊसर
कैसी भी हो धरती निर्भर रही जोतने वाले पर।
सदियों तक लूटता रहा है जमा किया है खायेगा

दो पैसा भी जमींदार अब क्यों मुग्रावजा पायेगा।
गूंज रहा है दशों दिशा में भूखे खेतिहरों का स्वर ॥"

हिन्दुस्तान को आजादी मिलने के बाद इस प्रमुख समस्या का हल नितान्त आवश्यक था। परन्तु इस ओर कोई ठोस प्रयत्न करने की बजाय स्थिति को और विकृत ही किया। हरी-भरी फ़सल को चरने के लिए हैवानों को छुट्टी दे दी गई।

"बात-बात पर नाक रगड़ना पड़ता है इन्सानों को।
हरी फसल चरने को छुट्टा छोड़ दिया हैवानों को॥"

नागार्जुन के काव्य में आजादी मिलने के बाद का सारा हिन्दुस्तान और उसमें लड़े जाने वाला जनता का संघर्ष मूर्त्तिमान होकर खड़े हो जाते हैं। कवि ने अपनी यथार्थदर्शिनी दृष्टि से आधुनिक अर्थ-व्यवस्था, राजनीति और समाज-व्यवस्था को देखा है तथा पाए जाने वाले वैषम्य के स्रोतों के मूल कारणों को खोजा है। उनके काव्य में पीड़ित हिन्दुस्तान के दर्द और कराह के साथ ही उसकी अदम्य जीवनेच्छा की भी अभिव्यंजना हुई है—जो जीवन के लिए संघर्ष करने के लिए सन्नद्ध है। बड़े-बड़े नेताओं से लेकर छोटे-छोटे ऑफ़ीसर तथा पुलिस और पल्टन के लोगों के परिमाणहीन खर्च पर अवलम्बित जीवन-चर्या को कवि ने व्यंग्य का विषय बनाया है—जो देश की गरीबी से संत्रस्त और प्रताड़ित जनता पर आधारित है :

"पुलिस और पल्टन के हाथी कितना चारा खाते हैं।
वही रंग है वही ढंग है फ़रक नहीं कुछ पाते हैं॥
ऊपर वाले बैठे बैठे खाली बात बनाते हैं।
बाढ़ अकाल महामारी में काम नहीं कुछ आते हैं।
देश-भक्ति की सनद मिल रही आये दिन शैतानों को।"

जनता की अदम्य संघर्ष की भावना देशभक्ति के पावन आदर्शों पर टिकी हुई है। इस आजादी में किसान-मजदूर, खेतिहर, मध्यमवर्ग और जनता के तमाम शोषित वर्गों का साझा होगा, यही जनता की सही आजादी होगी, जिसमें नौकरशाही का सड़ा-गला ढांचा 'चूरमचूर' हो जायेगा तथा किसान-मजदूर और जनता के अन्य तमाम वर्ग प्रसन्नता से 'सुजला सुफला' के गीत गायेंगे।

"खेत मजूरों और किसानों में जमीन बँट जाएगी।
नहीं किसी कमकर के सिर पर बेकारी मँडराएगी॥

नहीं मिलेगा साजिश करने का मौका गद्दारों को।
वतन फ़रोशी का न मिलेगा ठेका ठेकेदारों को॥

❀ ❀ ❀ ❀

नौकर शाही का यह रद्दी ढाँचा हो चूरमचूर।
'सुजला सुफला' के गाएँगे गीत प्रसन्न किसान-मजूर॥"

'राम राज्य' नागार्जुन की लम्बी कविता है जो क्रमशः 'हंस' और 'प्रगति' में प्रकाशित हुई थी। इसमें नागार्जुन ने आज के काँग्रेसी शासन को गाँधी जी के रामराज्य के स्वप्न के रूप में ग्रहण किया है और उसका यथार्थ दृष्टि से चित्रण किया है। इसमें देशभक्ति कवि की वेदना का स्वर ही प्रधान है। रामराज्य गाँधी जी की एक महान् कल्पना थी। उसे इस प्रकार से खण्डित होकर बिखरता देख कवि का हृदय अन्तर्व्यथा से भर गया है। यह व्यथा अपने तीखे रूप में व्यंग्य में परिवर्तित हो गई है पर उसमें एक चोट खाये हुए देशभक्त कवि की वेदना ही प्रधान है।

'रामराज्य में अब की रावन नंगा होकर नाचा है'
सूरत शकल वही है रैया बदला केवल ढाँचा है
नेताओं की नीयत बदली फिर तो अपने ही हाथों,
भारतमाता के गालों पर कस कर पड़ा तमाचा है।

❀ ❀ ❀ ❀

'लाज शरम रह गई न बाकी गाँधीजी के चेलों में,
फूल नहीं लाठियाँ बरसतीं रामराज्य की जेलों में।
रैया लन्दन ही पसन्द है आज़ादी की सीता को।
नेहरू जी अब उमर गुजारेंगे अंगरेजी खेलों में॥'

यह स्थिति उस देश के नायकों की है जिस देश की जनता की चेतना का स्तर इस प्रकार है :

'दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ते से चिकनी-चुपड़ी बोली में,
रेडियो वाला शाम-सबेरे जाने क्या-क्या बकता है।'

लगता है जैसे नागार्जुन के काव्य में सारा हिन्दुस्तान बोल रहा है। वह अबोध, सीधा, सरल और ग्राम्य देश जिसके लिये विश्व में होने वाले महान परिवर्तन और वैज्ञानिक अनुसंधान अगम्य हैं, जिसके लिये रेडियो वाला 'जाने क्या-क्या बकने' के सिवा और कुछ नहीं करता। नागार्जुन इसी हिन्दुस्तान की कोटि-कोटि जनता के प्रतिनिधि कवि हैं जो उनकी वाणी में बोल रही है।

गाँधी जी की मृत्यु पर उन्होंने जो कविताएँ लिखीं उन कविताओं में उस भावाकुल कवि की छटपटाहट है, जो राष्ट्रपिता की क्रूर हत्या से एक साथ ही विचलित हो उठा है। ये कविताएँ 'जन-शक्ति' में छपीं—जिसके प्रकाशन पर राष्ट्रपिता के अनुयायी शासक-वर्ग ने जमानत तलब की। क्योंकि नागार्जुन ने उन कविताओं में अपने दिल की छटपटाहट के साथ ही युग के उस यथार्थ को भी अंकित किया है जो जनता को धोखा देने के लिए कुछ धूर्तों ने रचा था। 'महाशत्रुओं की दाल न गलने देंगे हम' शीर्षक कविता में भी उन्होंने इसी तथ्य का उद्घाटन किया है :

'बापू मरे·········
अनाथ हो गई भारतमाता·········
अब क्या होगा·············
हाय ! हाय ! हम रहे कहीं के नहीं
लुट गये
······रो रो करके आँख लाल करली धूर्तों ने

❀ ❀ ❀ ❀

लगे बदलने दुष्ट पैंतरे···········
धरती छूकर कान छुए श्यामाप्रसाद ने
भौंपटकर ने बहा दिये घड़ियाली आँसू'

गाँधी जी की मृत्यु से भारतीय जनता के हृदय पर जैसे कठोर अशनिपात हुआ है। सारे राष्ट्र के हृदय में उन मनोवृत्तियों को समूल नष्ट कर देने की प्रेरणा हुई जिन्होंने हमारे राष्ट्र-पिता को हमसे छीन लिया। किन्तु हमारी सरकार ने बजाय इसके कि इन देशघातक प्रवृत्तियों को समूल नष्ट करे जनता को मीठे उपदेशों से बहलाना प्रारम्भ कर दिया :

"जोर-जोर से खाँस-खाँसकर
शुरू हो गया नेताओं का मधुर सिखावन
शान्त रहें हम हत्यारे को सज़ा मिलेगी
जो भी कुछ करना है सब सरकार करेगी
तत्पर हो सारी साजिश की जाँच और पड़ताल करेगी
शान्त रहें हम
चुप बैठें हम
धरे हाथ पर हाथ
हाय हाय कर सो भी आहिस्ते से पीटें माथ।"

पर कवि को इससे संतोष नहीं है। वह राष्ट्रपिता के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहता है :

"यातुधान की अद्भुत माया मुझसे कही न जाए
कौन बताये कालनेमि की लीला अपरम्पार
काली टोपी जला-जला वह आज कर रहा
तेरी जय जयकार

❀ ❀ ❀

भूखे रहकर
गंगा में घुटने भर धंसकर
हे वृद्धपितामह
तिल जल से
तर्पण करके
हम तुझे नहीं ठग सकते हैं.........
यह अपने को ठगना होगा
शैतान आएगा रह-रह हमको भरमाने
अब खाल ओढ़कर तेरी सत्य अहिंसा का......
एकता और मानवता का
इन महा शत्रुओं की दाल न गलने देंगे
हम एक नहीं चलने देंगे

❀ ❀ ❀

तेरे उन अगणित स्वप्नों को
हम रूप और आकृति देंगे
हम कोटि कोटि
तेरी औरस संतान, पिता"

आजादी के बाद के हिन्दुस्तान को नागार्जुन ने शब्दों में बांध दिया है। जनता की जिन्दगी किन भीषण कठिनाइयों से गुज़र रही है इसका बहुत ही सुन्दर चित्रण है। सारे देश में भुखमरी, अकाल, बाढ़, महामारी, महँगाई और बेकारी का प्रकोप है। नेताओं का स्वर बदल गया है। अन्न के नाम पर पकड़े जाने और सफाई देने की स्थिति है :

"कहीं बाढ़, भूचाल कहीं पर, कहीं अकाल कहीं बीमारी
महँगाई की क्या नजीर दूं, मानों द्रुपद-सुता की सारी।

भूखों मरो चबाओ पत्ती, मगर अन्न का नाम न लेना।
कहीं न तुम भी पकड़े जाओ कहीं सफाई पड़े न देना।।
सुर बदला लीडर लोगों का हमें सब्र की सीख दे रहे।
चचों भतीजों की पौ बारह खुद ही सब कुछ हड़प ले रहे।।"

देश की इस दुर्दशा को देखकर ही उन्होंने इस आजादी को अपने पैने व्यंग्य का निशाना बनाया है। देश की जनता की आम समस्यायें हल न हों, उसकी इस प्रकार दुर्दशा हो तो उस आजादी को क्या कहा जाएगा ? क्या यह आजादी सही है ? नागार्जुन कहते हैं :

"कागज की आजादी मिलती
ले लो दो-दो आने में।"

नागार्जुन के इस राष्ट्रीय और देशभक्ति-पूर्ण काव्य का यह आशय नहीं कि वे साम्राज्यवाद के खौफ़नाक स्वरूप से परिचित नहीं हैं। उनकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता को भुलाकर नहीं चलती। उपनिवेशों की जनता के संघर्ष एक सूत्र में गुंथे हुए हैं। भारत आज अर्द्ध उपनिवेश की अवस्था में है, अतः यहाँ की जनता का स्वतन्त्रता-संग्राम एशिया की जनता के स्वतन्त्रता संघर्ष की ही एक कड़ी है। भारत में साम्राज्यवादी अपनी चालें चल रहे हैं। काश्मीर पर क़ब्ज़ा करने की साम्राजी साजिश को चुनौती देता हुआ उनका कवि कह उठता है —

'केशर की मासूम क्यारियों से आती आवाज़
काश्मीर पर कश्मीरी जनता का होगा राज।'

पतनोन्मुख साम्राज्यवाद आज अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये युद्ध की विभीषिका को जन्म देना चाहता है। साम्राज्यवाद के इस संस्कृति विनाशक प्रयत्न को चुनौती देते हुये नागार्जुन ने शान्ति की चेतना को शब्दों में सँजोया है, क्योंकि वे जानते हैं कि युद्ध का अर्थ है संस्कृति का विनाश। ताजमहल, शान्तिनिकेतन, अजन्ता, एलोरा, और साँची में लहलहाती सजीव संस्कृति का विनाश। पर उनकी शान्ति की चेतना 'यमशान्ति' नहीं है— वह शान्ति की सच्ची कल्पना है जो शान्ति के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये मनुष्य को प्रेरणा देती है।

नागार्जुन की कला के तत्व को समझने के लिये कला के वर्गीय स्वरूप से परिचित होना जरूरी है। उन्होंने अपने काव्य के शिल्प के लिये हिन्दी साहित्य की विशाल परम्परा से चुन-चुन कर जनवादी उपकरण एकत्रित

किए हैं और उनके द्वारा अपनी कला की संयोजना की है। इसलिये सारे हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा अपने संगठित रूप में नागार्जुन के काव्य में अभिव्यक्त हुई है। उनकी कविताओं का रूपात्मक पक्ष इसका मुखर साक्षी है। तुलसी के हनुमान चालीसे का जयघोष स्वर इन पंक्तियों में अपने नए वर्ण्य विषय का सहारा लेकर उभरा है :

"हिन्दचीन जय, जय हो चीमिन्ह वीर शिरोमणि वियतनाम के
जय जय वीर गुरिल्ले, प्रतिनिधि जयति मलाया के अवाम के
जयति जयति जय तेलंगाना जय जय छापामार तिलंगे
जय जय जय हाजंगी हीरो—मेमेनसिंह के भूखे नंगे।
जय अभाव अभियोग-ग्रस्त जय, जयति क्षुधातुर जयति दिगम्बर।
जागो जागो जगा रहा है तुम सबको यह सात नवम्बर॥"

भारतेन्दु-युग के लेखकों की वह विशेषता रही है कि उन्होंने जनता के लिये कला के ऐसे रूपों को चुना जो सामाजिक प्रभाव उत्पन्न करने में बड़े ही मार्के का काम करते हैं। जैसे चूरण का लटका, पहेलियाँ, गजलें, लावनी आदि। तभी तो भारतेन्दु ने कहा था :

'चूरण साहब लोग जो खाता
सारा हिन्द हज़म कर जाता।'

और पहेलियों में 'क्यों सखि साजन, नहिं अंरेगज" की गूंज प्रसिद्ध ही है। नागार्जुन ने बड़े ही कौशल के साथ भारतेन्दु-युग के कलारूपों को अपनाया है। चूरण के लटके तथा अपनी पहेलियों में उन्होंने युगसत्य को बड़े ही पैने रूप से अंकित किया है। भारतेन्दु की भाँति छप्पय में देश की दुर्दशा का खींचा हुआ चित्र सहज ही उस परम्परा के वाहक तथा युग-प्रवर्त्तक कवि के स्थान पर आसीन कर देता है।

कविता में उनकी दृष्टि जन-भाषा की ओर अधिक है। इसलिए उनके काव्य की भाषा हिन्दुस्तान के किसान की तरह सरल, सीधी, देहाती मुहावरों-लोकोक्तियों से युक्त तथा संघर्षशील मजदूर की भाँति स्पष्ट, व्यंगात्मक और चोट करने वाली है। यहाँ तक कि उन्होंने अपने काव्य की उपमाओं को भी ग्राम्य-जीवन और ग्राम्य-भाषा से चुना है। कुछ मुहावरों के प्रयोग देखिए :

(१) देखो गिरने ही वाले हैं भहरा कर ये महल ताश के।
(२) हमलावर मुँह की खायेंगे—उतर जायगा नीचे पारा॥

(३) चचों भतीजों की पो बारह, खुद ही सब कुछ हड़प ले रहे।
(४) जो कोई इनके खिलाफ उँगली उठायेगा बोलेगा।
(५) काल कोठरी में ही जाकर, फिर वह सत्तू घोलेगा।

उपमानों को चुनने में भी उन्होंने जनता के जीवन को अपना क्षेत्र बनाया है—मंहगाई कैसे बढ़ी है जैसे द्रौपदी की साड़ी हो।

'मंहगाई की क्या नज़ीर दूं जैसे द्रुपदसुता की साड़ी।'

नागार्जुन की भाषा आम जनता की भाषा है और जन-भावनाओं के साथ संश्लिष्ट रूप में प्रयुक्त हुई है। दूसरे उसमें व्यंजना शक्ति प्रधान है। नागार्जुन बात को वक्रता के साथ प्रस्तुत करने में भी अद्भुत कौशल रखते है। व्यंजना का यह चमत्कार देखिए:

'जनगण मन अधिनायक जय हो प्रजा विचित्र तुम्हारी है
भूख भूख चिल्लाने वाली अशुभ अमंगलकारी है।
बंद सेल, बेगूसराय में नौजवान दो भले मरे।
जगह नहीं है जेलों में—यमराज तुम्हारी मदद करे॥"

'भुस का पुतला" शीर्षक कबिता प्रतीक शैली में है, जिसमें कवि ने बतलाया है कि वर्तमान व्यवस्था भुस के पुतले की तरह है जो जनता की रक्षा करने में असमर्थ है, लोमड़ियां खेती चर रही हैं, जनता के जागने की जरूरत है। प्रस्तुत कविता में वर्ण्यविषय का बहुत ही सुन्दर निर्वाह हुआ है। इस भुस के पुतले का प्रतीक स्पष्ट करते हुए अन्त में कवि ने लिखा है:

"सरग था ऊपर
नीचे पताल था
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल दिमाग़ भुस का खद्दर का खाल था।"

व्यंग नागार्जुन की कविता की सबसे बड़ी विशेषता है। उनके व्यंग में एक प्रेरक शक्ति है, एक ताक़त है जो देशभक्त कवि के हृदय की अंतर्व्यथा की प्रतिरूप है। देश की वर्त्तमान दुर्दशा से उत्पन्न यह अंतर्व्यथा अपने प्रगाढ़ रूप में एक तीखे व्यंग में परिवर्तित होकर हमारे सम्मुख आई है:

"वतन बेचकर पंडित नेहरू फूले नहीं समाते हैं
बेशर्मी की हद है फिर भी बातें बड़ी बनाते हैं।
अंगरेजी अमरीकी जोंकों की बरात में हैं शामिल
फिर भी बापू की समाधि पर झुक-झुक फूल चढ़ाते हैं॥"

देश की अवस्था और पुलिस तथा हाकिम सहज उनके व्यंग के निशाने बन गये हैं :

"मलावार के खेतिहरों को अन्न चाहिये खाने को
दण्डपाणि को लट्ठ चाहिये बिगड़ी बात बनाने को
जंगल में जाकर जो देखा नहीं एक भी बांस दिखा
सभी कट गये—सुना देश को पुलिस रही है सबक़ सिखा।"

नागार्जुन के व्यंग में एक तीखापन विद्यमान है जो प्रतिपक्षी के कलेजे पर तीर की तरह चोट करता है। इस अमोघ व्यंग के साथ युग को जलता हुआ यथार्थ भी घुल-मिल कर व्यक्त हुआ है। कवि को व्यंग करने की यह चेतना सामाजिक जीवन की असंगतियों से मिली है। वह इन असंगतियों को देखता है—उसके हृदय में शोक और क्रोध की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं—और बुद्धिजीवी कवि के संस्कार झटके से टूटकर बिखरने लगते हैं। ये संस्कार उसके मस्तिष्क पर आज़ादी की कल्पना के जमे हुये थे, व्यथाकुल कवि परिस्थिति और उससे सम्बन्धित व्यक्तियों को अपना निशान बनाता है। उनके व्यंग में देशभक्त कवि की मनोव्यथा, पतित, स्वेच्छाचारी सत्तारूढ़ नेताओं का उपहास, चाटुकारों का अच्छा खासा विद्रूप तथा परिस्थिति को बदल देने की उत्कट प्रेरणा वर्त्तमान है। प्रस्तुत स्वतन्त्रता मिलने के बाद देश की भीषण, अकथनीय दुर्दशा हो रही है। उससे ध्यान हटाकर एक कवि तथा धूल पर चीनांशुक फैलाकर अपना ध्यान देशकाल से हटाकर झूलों पर झूल रहे हैं। इन कवि का विद्रूप बनाते हुये वे कहते हैं :

"सुरभित चीनांशुक फैलाकर राखों पर, धूलों पर
देशकाल का ध्यान हटाकर झूल रहे हो झूलों पर
अजी, धन्य हो कवि कोकिल तुम
आज नहीं तो कल अवश्य ही नंदनवन में आग लगेगी
भस्मसात होने वाला है नीड़ तुम्हारा
काम आएगी स्वर्ण-किरण की जाली
पैराशूट बना लेना, प्रिय
डैनों में रह गई न ताक़त
उड़ तो क्या सकते हो।"

इन स्वर्णकिरण की जाली का पैराशूट बना कर उड़ने वाले कवि कोकिल का वह चित्र अपूर्ण रह गया हो व यदि काया न झुलस सकने वाले

चाटुकार कवि (झुलस नहीं सकती है केवल चाटुकार की काया) को ढूंढ़ना चाहें तो वह हमें नागार्जुन के काव्य में ही शासक वर्ग की वंदना करते हुये मिल जायेंगे। यह कवि कर्म भी देखिये :

"पुलकित, कुलकित
उलसित, हुलसित
कुहकित, कुंचित
पंत सुमित्रानन्दन
नरम-नरम सी, तुनक तरल सी
समयोचित पद्यावलियों में
गाते हैं गुणगाथा
हिला डुलाकर कुंचित कंपित माथा।"

नागार्जुन के काव्य की चेतना राजनैतिक है जो उनके काव्य की विषय वस्तु को प्रायः सीमित करती है। वैसे उन्होंने एकाधिक ऐतिहासिक चित्र भी दिये हैं, जैसे भिक्षुणी। जिसमें १००० वर्ष पूर्व के बौद्ध मठों के जीवन का चित्र है तथा जिसमें मध्य युगीन नारी का मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित किया गया है। यों सांकेतिक या प्रतीक व्यंजना की शैली में पीपल के पत्ते आदि। तब भी यह उनके काव्य की एक बड़ी सीमा है कि वह सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त अग्रगामी चेतना को अपने में समाहित नहीं कर सका है। इस दृष्टि से उनका काव्य एकांगी रह जाता है। राजनीति को तो साहित्य का विषय बनना ही चाहिये—किन्तु प्रगतिशील काव्य के लिये यह आवश्यक है कि वह जीवन के व्यापक क्षेत्र का समाहार करे। ताकि सम्पूर्ण जीवन की विकासोन्मुखी चेतना को अपनाया जा सके और काव्य को एक व्यापक भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया जा सके।

दूसरी चीज—जो उनकी कुछ थोड़ी सी रचनाओं में पाई जाती है—वह है इतिवृत्तात्मकता। ऐसे स्थलों पर उनकी कविताओं में भावगाम्भीर्य कम हो गया है।

तीसरी चीज जिसे प्रगतिशील कविता का प्राण कहना चाहिये : विद्रोह-तत्त्व की न्यूनता। विद्रोह और बगावत की ये भावनाएँ जाफरी के काव्य में अपनी पूरी ताकत के साथ व्यक्त हुई हैं। नागार्जुन व्यंग्य करते हैं। पर उनके व्यंग के पीछे एक निरीह आँसू बहाती हुई जनता का स्वर ही प्रधान है। अधिक से अधिक यह जनता "सुजला सुफला" के गीत गाने से

इन्कार कर देती है। परन्तु उस क्रान्तिकारी और बगावत करने वाली जनता की शक्ति की पृष्ठभूमि अभी उनके काव्य को कम ही मिली है जो समस्त एशिया में साम्राज्यवाद का जनाज़ा निकाल रही है। "काश्मीर पर कश्मीरी जनता का होगा राज" का जनदर्प पूर्ण स्वर विरल मात्रा में ही हैं क्योंकि हिन्दुस्तान की जनता जहाँ एक ओर आँसू बहा रही है वहीं दूसरी ओर वह सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के दुर्ग को अपने भूकम्पी धक्कों से ढहा रही है। एशिया जाग उठा है और झटके से अपनी जंजीरें तोड़ रहा है। एशिया की जनता "कंकालों के अस्थि शेष पर खड़े विश्व साम्राज्यवाद की उठो ईंट से ईंट बजादो" का संकल्प लेकर आगे बढ़ रही है। उसका संकल्प है "आज धरा की छाती पर तुम न रहे या हम न रहेंगे"। एशिया की मुक्तिकामी जनता अपने इस महान् संकल्प को साकार करने के लिए कर्मयुग की शुरुआत कर चुकी है। एशिया की जनता के संघर्ष की क्रांतिकारी चेतना उनके काव्य में अभी आना शेष है।

कवि त्रिलोचन

नई पीढ़ी के उभरते हुए कवियों में त्रिलोचन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे उन कवियों में से हैं, जिनमें मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति एक बलवती आस्था विद्यमान है; जिसे निकट लाने के लिए वे अद्भुत क्रियाशक्ति तथा विश्वास से लिख रहे हैं।

'धरती' त्रिलोचन का पहला काव्य-संग्रह है। अपनी कुछ निजी विशेषताओं के कारण यह संग्रह हिन्दी में आये दिन प्रकाशित होने वाले अन्य संग्रहों से मेल नहीं खाता। ये कविताएँ व्यापक भावभूमि पर खड़ी हुई हैं और जीवन के अनेकों अंगों को छूती हुई चलती हैं। सही मानों में उनका क्षेत्र सारी धरती ही नहीं, वरन् जहाँ तक धरती के पुत्र मानव की गति है—इनका क्षेत्र है। इस विस्तृत भाव-भूमि को अपने में समाहित कर चलने वाले काव्य-संग्रह हिन्दी में अत्यन्त विरल हैं।

कवि के काव्य का विश्लेषण करने के पहिले हमें उनके काव्य की उन विशेषताओं को समझना आवश्यक है, जिनके आधार पर इन कविताओं की टेकनीक का गठन हुआ है; क्योंकि प्रायोगिक काव्य की प्रेरक सामाजिक जीवन की नई वास्तविकताएँ ही होती हैं। 'धरती' की कविताएँ टेकनीक प्रधान हैं, प्रयोगात्मक हैं। अतः उन नई वास्तविकताओं को जानना आवश्यक है, जिनके आधार पर कवि ने प्रयोग किये हैं।

वर्त्तमान समाज, वर्गों से बने हुए समाज की अन्तिम कड़ी है। आज वर्गों का पारस्परिक संघर्ष अत्यन्त क्षिप्र हो गया है। यह संघर्ष स्पष्ट ही शोषक और पूँजीपति और शोषित मजदूर के बीच है; जिसमें सर्वहारा की विजय निश्चित है। मनुष्य पहली बार इतनी शक्ति और आत्मविश्वास के साथ दुनिया को बदलने के लिए खड़ा हुआ है। कवि दृढ़ आस्था के साथ कहता है :

'मैं निर्भय संघर्ष निरत हो
बदल रहा संसार तुम्हारा।'

सामाजिक लक्ष्य के प्रति जागरूक कवि की मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य तथा संसार को बदलने की ये इच्छाएँ केवलमात्र भावात्मक नहीं वरन् एक

उदात्त नैतिक चेतना से परिचालित हैं। अतः उसमें न तो कहीं झिझक और उलझन है, न ही मानसिक घुमड़न और अन्तर्विरोध ही। वरन् इस नैतिक निष्ठा के कारण उसे अपनी निष्क्रियता पर आक्रोश तथा ग्लानि भी है। झिझक को दूर कर वह उन्मुक्त रूप से कहता है :

'जिनका क़दम-कदम जीवन की जय यात्रा का प्रिय प्रतीक है।
मैं सगर्व सोल्लास निरन्तर उन लोगों का गुण गाता हूँ।।'

यह कविता ऐतिहासिक दृष्टि से वही मूल्य रखती है जो 'एक भारतीय आत्मा' की 'एक फूल की चाह' का है। अन्तर यही है कि 'एक फूल की चाह' की सामाजिक चेतना केवल राष्ट्रीयता तक सीमित है; जबकि प्रस्तुत कविता की चेतना व्यापक समाजवादी संसार के लिए है। त्रिलोचन ने समाज की विकासोन्मुख परम्परा के आगे स्वयं को एक कड़ी बना कर जोड़ दिया है। इस प्रकार हिन्दी कवि की सामाजिक चेतना का विस्तार हुआ है, यह स्पष्ट है। अपनी निष्क्रियता में वह परिताप और ग्लानि का अनुभव करता है :

'कोई काम नहीं कर पाया
कभी किसी के काम न आया
जगती से अन्न-जल पवन लेता रहता हूँ
क्या मेरा जीवन जीवन है।

पर ये क्षण कवि के जीवन में बहुत ही अल्प हैं। वह दृढ़ता से बढ़ने की बात करता है। वह परिवर्त्तनों का मूल्य समझता है। वर्त्तमान युग की पीढ़ी पर ही मनुष्य का भविष्य निर्भर है। एक महान् उत्तरदायित्व उसके कन्धे पर है। कवि ने उसे मनुष्यता का मुक्तिदूत कहा है; जो नूतन समाज का स्रष्टा है, जिसकी पग-ध्वनि में जीवन का गर्जन है।

'बिगुल बजाओ और बढ़े चलो
यह सम्मुख मैदान पड़ा है।
मानवता के मुक्तिदूत तुम
कौन तुम्हारे साथ अड़ा है।।'

❀ ❀

'तुम नूतन समाज के स्रष्टा
पग ध्वनि में गर्जन जीवन का।'

वह धरती की पीड़ा से व्याकुल है और उसके लिए हरा-भरा देखने के लिए वह स्वयं गल जाना चाहता है, मिट जाना चाहता है। बलिदान की उत्कट-भावना से पूर्ण ये पंक्तियाँ कवि की घनीभूत वेदना की व्यंजना करती हैं :

'प्रिय मैं जलधर-सा धरती को
दुखी देख कर तप्त देख कर
शीतल छाया बन छाऊँ
उसका रूखा सूखा आँचल
हरा-भरा कर देने के हित
गल-गल जाऊँ मिट-मिट जाऊँ ॥'

त्याग और बलिदान की यह उत्कट प्रेरणा किसी कवि में तभी उत्पन्न होती है, जबकि उसने जीवन को प्यार किया हो, उसे निकट से देखा हो; जिसका मन जीवन की सौंदर्य चेतना से दीप्त हुआ हो। त्रिलोचन को जगत से प्यार है, उन्हें जगत की प्रत्येक वस्तु सुन्दर लगती है। यह उसके सहज सुन्दर रूप पर मुग्ध है :

धूप सुन्दर
धूप में
जग रूप सुन्दर
सहज सुन्दर

सौंदर्य की चेतना जैसे कवि के हृदय पर स्थायी रूप से छा गई है। उसने प्रकृति में एक सौंदर्य अनुभव किया है। संग्रह में प्रकृति चित्रण-सम्बन्धी कविताओं की कमी नहीं है। जो लोग काव्य में हुए स्वस्थ प्रकृति चित्रण को महत्ता प्रदान करना नहीं चाहते, वे यह भूल जाते हैं कि प्रकृति जहाँ मानव की चिरसंगिनी के कारण व्यापक मानव जीवन का अंग है, वहीं वह कवि-हृदय में एक उदात्त सौन्दर्य चेतना की सृष्टि करने वाली एक अद्भुत शक्ति है। प्रकृति के निर्मल रूप को देख कर कवि कह उठता है :

सोचता हूँ
क्या कभी
मैं पा सकूँगा
इस तरह
इतना तरंगी

और निर्मल
आदमी का
रूप सुन्दर
धूप सुन्दर
धूप में जग रूप सुन्दर
सहज सुन्दर

जिस कवि के हृदय में मानव के इस निर्मल रूप को पाने की चेतना होगी, वह उस रूप को सौन्दर्य और निर्मलता प्रदान करने के लिए न केवल सोचता रहेगा, बल्कि उसके लिए जूझेगा, संघर्ष करेगा। कमर कस कर जुटेगा और लौटने का नाम नहीं लेगा :

'स्वप्नों को चरितार्थ करो अब
आगे बढ़ो कमर को कस कर
तन-मन देकर
तुम्हें प्रभात पुकार रहा है राही।'

❀ ❀

अतः संघर्ष में :

साँस से चलते रहो प्रिय
ठहरने का नाम मत लो
लौटने का नाम मत लो

❀

अलग होकर कर्म पथ से
प्रिय विजय का नाम मत लो।'

कवि को जीवन की शक्ति पर असीमित विश्वास है। वह जानता है कि जीवन कभी पराजित नहीं हो सकता, मौत कभी विजयी नहीं हो सकती। मृत्यु पर जीवन की विजय यह प्रकृति का अखण्ड विधान है। इसीलिये वह कहता है :

'मौत यदि रुकती नहीं
तो जन्म भी रुकता कहाँ है!'

नये प्रभात की किरणों से कवि का काव्य ओत-प्रोत है। प्रभात कवि को पुकारता है, कभी वह उसके पास आता है, कभी वह भोरई केवट के घर पहुँचता है। त्रिलोचन के काव्य में 'आया प्रभात' कवि की उस मानसिक ग्रंथि

की अभिव्यक्ति है जो उसे जीवन के अंधकारहीन, पराजयरहित तथा दीप्ति और उल्लास से पूर्ण भाग की ओर आकृष्ट करती है।

सामाजिक और प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त कुछ कविताएँ प्रेम-सम्बन्धी हैं। पर यह प्रेम न तो रूप-लिप्सा पर आधारित ही है, ऐन्द्रिकता तथा अतृप्ति ही वहाँ मिलेगी। त्रिलोचन के काव्य में हिन्दी में पहला सामाजिक प्रेम का चित्रण है; जिसमें प्रेम, विलासिता और शारीरिक भूख से परिचालित न होकर साहचर्य तथा श्रम पर आधारित हैं।

'आये न बहुत दिन बादल
होता निज धाम भयंकर
हरियाली रही न निर्मल
औ लगी फसल मुरझाने
आखिर अपने बल लेकर
मिल कर वे दोनों प्राणी
दे रहे खेत में पानी ॥'

सिर के ऊपर कठिन धूप है, हवा रुक गई हैं, दोनों दूब के ऊपर पाँव रख कर पानी खींचते हैं। साँसें चल रही हैं और पसीना झर रहा है—पर उन्हें विश्राम नहीं है। कभी-कभी कपसीले बादल धूप से उनकी रक्षा कर देते हैं। कभी हल्की पुरवैया आकर पसीना सुखा जाती है और वे हृदय फुला कर अधिक श्रम करने लगते हैं। वे कभी-कभी बीच में बातें करते हैं—और :

'पल दो पल नयन मिलाते
बल की परिभाषा करते।'

कवि स्वयं कहता है कि उनका यह प्यार अनोखा है :

'यह उनका प्यार अनोखा
है उत्पादक है दृढ़तर।'

यह प्रेम असामयिक नहीं है—मैं तो इसे प्रेम का किसानी रूप ही कहूँगा। प्रेम और श्रम की यह मिश्रित चेतना हिन्दी काव्य के लिए बिल्कुल नई है। हालावादी कवि का प्रेम हवाई और काल्पनिक था। उसे बुलबुल तरु की डाली पर से यौवन का संगीत सुना देती थी। पर त्रिलोचन का प्रेम सहयोग-भूमि पर आधारित होकर श्रम की सम्बद्ध भावना से परिचालित है। बुलबुल के संगीत से उत्पन्न आरोपित प्रेम नहीं :

वे हरे खेत
हैं याद तुम्हें ?
मैंने जोता तुमने बोया
धीरे-धीरे अंकुर आए
फिर और बढ़े
हमने तुमने मिल कर सींचा
फूली मनमोहन हरियाली
धरती माता का रूप सजा
उन परम सलौने पौधों को
हम दोनों ने मिलकर बड़ा किया
जिनको नहलाते हैं बादल ।'

सम्बन्ध भावना के कारण इस प्रेम की उत्पत्ति हुई जिसकी श्रममूलक व्याख्या कवि ने प्रस्तुत की है । जो कुंठा से उत्पन्न है न अतृप्ति का उन्मुक्त रोमानी प्रेम । यह कहने से मेरा आशय यह नहीं कि कवि की रूप-चित्रण में गति नहीं । 'प्रिय बड़े ही मनोयोग से' शीर्षक कविता में कवि कहता है कि उस शिल्पी ने बड़े ही मनोयोग से तुम्हें गढ़ा है । सारी कविता में कवि ने जिस चातुर्य से रूप और सौंदर्य की प्रतिष्ठा की है—उसमें न तो स्थूल आंगिक वर्णन है । न ही छायावादी का वायवी चित्रण है, न ही अतृप्ति का उदात्तीकरण ही । कवि कहता है कि उस शिल्पी ने :

तुमको अंधकार में देखा
फिर दिन के प्रकाश में देखा
बिजली चाँद लहर से उसने
तुमको मिला-मिलाकर देखा ।
देख-देखकर सोच-समझकर
और सुधारा और संवारा ।

इस कविता में कवि ने अपने जिस काव्य-सामर्थ्य का परिचय दिया है उसके अद्भुत शिल्प चातुर्य का प्रमाण है ।

इसके साथ ही प्रेम के कुछ गार्हस्थिक चित्र भी कवि ने दिये हैं—जिनकी परम्परा हिन्दी में मिट-सी गई है । शायद नए कवि प्रेम का अर्थ उसकी सामाजिक अस्वीकृति में ही समझने लगे हैं, पर सामाजिक दृष्टि से कभी भी स्वस्थ नहीं कहा जा सकता । कवि ने 'जब कभी मैं अकेला हो

आता हूँ' शीर्षक कविता में मनोवैज्ञानिक रूप से गार्हस्थिक जीवन के प्रेम की तीन स्मृतियों को उतारा है। प्रेमिका के गीत सुनकर उसे अपने बीते स्वप्नों की स्मृति ताज़ी हो जाती है।

प्रेम के साथ ही श्रम की चेतना को कवि ने उदात्त रूप दिया है। विस्फोट और चीत्कार की नारेबाज़ी से कोई कविता प्रगतिशील नहीं हो जाती। उसके लिये कवि की वह सूक्ष्म दृष्टि होनी आवश्यक है जिससे कि सत्य के निकटतर जा सके। जब कवि प्रकृति का वर्णन करता तब भी वह उसकी उपयोगिता की भावना का तिरोभाव नहीं होने देता। गंगा का वर्णन करते हुए कवि कहता है:

'नावें चलती हैं तने पाल
तटभूमि हरित निर्मल विशाल
कुछ जुते खेत कृषि अंकमाल
श्रमशील विपुल मानव सम कर बलशाली
गंगा बहती है लहराती लहरों वाली।'

'तारकों से ज्योति चलकर भूमि-तल पर जा रही है' शीर्षक कविता में कवि ने विवाह के जिस रूप को प्रस्तुत किया है उसमें मध्ययुगीन जीवन की छाप मिलती है। सारे ग्राम में एक सामूहिक उल्लास देखने को मिलता है—जैसे पूरा ग्राम ही परिणय सूत्र में बँध रहा हो।

कवि का भावपक्ष अत्यन्त सबल है। पराजय की कल्पना से उसे भय होता है, वह जय का प्रेमी है, उसे रूप की तृषा है, उसे रंग चाहिये, अभी उसे आँखों में अर्थ जान पड़ता है—अभी उसे शान्ति कैसे मिल सकती है। फिर भी उसे विश्वास है कि वह राह पा गया है, और उस राह पर वह:

'चिन्ता क्या
शंका क्या
बुरा क्या अकेलापन
चलना है
गतिबल है।'

की भावना से बढ़ रहा है।

कुछ कविताएँ युद्ध कालीन हैं जिनमें जनता का मनोवैज्ञानिक तथा तटस्थ चित्रण है। 'चम्पा काले अक्षर नहीं चीन्हती' शीर्षक कविता भारतीय

नारी के भोलेपन के साथ ही उसकी अविकसित मानसिक चेतना की ओर संकेत करती है। 'गोविन्द तुम आज नहीं हो' में वियोगी पिता की आत्म विह्वलता है।

इन कविताओं का भावपक्ष कुछ स्पष्ट संकेत कर देता है। एक तो कवि ने कहीं भी औसत से अधिक बनने की कोशिश नहीं की। फल स्वरूप उसके काव्य की चेतना सही माने में भारतीय जनता की चेतना है, आरोपित क्रांति की लफ्बाजी नहीं। वह यथार्थवादी है, हवा में पेग नहीं भरता। यथार्थ के सही रूप को विविध सामाजिक अन्तर्विरोधों के बावजूद पकड़ने में वह कुशल है। पर यह यथार्थ स्थिर वास्तविकता नहीं—उसका गत्यात्मक रूप है। जो समाजवाद की ओर गतिशील है। इस रूप में वे हिन्दी के अप्रतिम कवि केदारनाथ अग्रवाल के अधिक निकट हैं। दूसरे, कवि में मानसिक अस्वस्थता जैसी कोई चीज़ नहीं है। तीसरे, त्रिलोचन के काव्य की यह प्रमुख विशेषता है कि वे कहीं भी भावनाओं को क्षणिक रूप में नहीं उभारते वरन् एक स्थायी प्रभाव डालते हैं। चौथी वस्तु है कवि की नैतिक निष्ठा—उसकी ईमानदारी। उसकी अनुभूति के प्रति तटस्थता। शब्दों की अतिरंजना उसमें नहीं है।

अपने टेकनीक में उन्होंने कुछ तो मनोवैज्ञानिक ढंग के प्रयोग किये हैं:

'जब जिस छन में
हारा, हारा, हारा
मैंने तुम्हें पुकारा
तुम आये
मुस्काये
पूछा—
कमज़ोरी है
बोला—नहीं, नहीं है
किसने तुमको कहा कि मुझको कमज़ोरी है।
तुम सुनकर
मुस्काये
मुझको रहे देखते
मुझको मिला सहारा

जब जिस छन में
हारा, हारा, हारा'

'आज मैं अकेला हूँ' कविता संगीत और लय के सौष्ठव से युक्त है। वह जीवन का सामाजिक मूल्य समझता है। इसलिए उससे एकाकी रहते नहीं बनता। उसका सामूहिकता प्रेमी मन एकाकीपन की चादर फाड़कर बाहर आ जाना चाहता है। क्योंकि कवि जीवन के प्रति एक अत्यन्त व्यापक दृष्टि रखता है। वह कहता है कि जीवन क्या मिला उसे एक रत्न मिला है, इस रत्न का मूल्य तो समाज ही समझ सकता है। एकान्त इसका मूल्य ही क्या ? एकला चलोरे भावना लेकर दृढ़ निश्चयी बन कर चल देता है। पर उसकी चेतना जैसे फिर से मुड़ पड़ती है वह सारे समाज को अपने साथ ले चलना चाहता है। 'एकला चलोरे' का आत्म विश्वास उसमें है, पर पूँजीवाद का दर्शन व्यक्तिवाद उसमें नहीं है—इसीलिये वह समाज को बिना साथ लिए आगे नहीं बढ पाता।

'आज मैं अकेला हूँ,
अकेले रहा नहीं जाता, रहा नहीं जाता
रतन मिला है यह
धूल में कि फूल में
मिला है तो मिला है यह
मोल-तोल इसका
अकेले कहा नहीं जाता
सुख आये दुःख आये
दिन आये रात आये
फूल में कि धूल में
आये जैसे जब आये
सुख-दुःख एक भी
अकेले सहा नहीं जाता
चरण हैं चलता हूँ
चलता हूँ, चलता हूँ
फूल में कि धूल में
चलाता मन चलता हूँ
ओखी धार दिन की
अकेले बहा नहीं जाता।'

कविता की लय कहती है कि उसके निर्माण में कवि ने लोक-गीत की किसी सुन्दरतम लय को तराशा है और नई भावना को उसमें ग्रथित कर दिया है। कवि ने कई छन्दों के नए प्रयोग किये हैं, और इसके साथ ही उसने जिन पुराने छन्दों का व्यवहार किया है उनमें एक नई शक्ति भर दी है।

जहाँ प्रयोग के लिये, नई वास्तविकता को प्रेषित करने के लिये व्यंजना को माध्यम बनाया है वहाँ कविता में संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति कुछ अधिक आ गई। जैसे 'पथ पर चलते रहा निरन्तर' शीर्षक कविता में। जिसमें 'पथिक चरण ध्वनि से दो उत्तर' इन शब्दों पर ही सारी व्यंजना आधारित है। निराला जी के ढंग के भी कुछ प्रयोग हैं। उन्हीं के ढंग के एक गीत की ये पंक्तियाँ :

'देख-देख भरे नयन में भाव
भाव वे जिनमें न रंच दुराव
या बिलगाव
समझ पाया मधुर-मधुर स्वभाव'

'गीतिका' के छन्दों के संगीत की स्मृति ताज़ा कर देती हैं। एक छंद और देखिये :

'बढ़ रही क्षण-क्षण शिखाएँ
दमकते अब पेड़ पल्लव
उठ रहा देखो विहग रव
गये सोते जाग
बादलों में लग गई है आग दिन की
पूर्व की चादर गई जल
जो सितारों से छपाई
दिवा आई, दिवा आई
कर्म का ले राग
बादलों में लग गई है आग दिन की।'

संगीत की सुष्ठु योजना के साथ ही कवि नाद-सौंदर्य की सर्जना में दक्ष है। 'आग'—'दिन की आग' की ध्वनि अंत तक गूंजती रहती है। निश्चय ही निराला की 'जागो फिर एक बार' के सशक्त संगीत के तूर्यनाद को उतने ही सशक्त माध्यम से अधिक विकसित कर कवि ने हिन्दी काव्य के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। वह उन्हीं की परम्परा का सिन्धुराग का गायक है।

प्रगतिवाद: आक्षेप और निराकरण

प्रगतिवाद पर हिन्दी में लगातार आलोचना की पुस्तकें लिखी जा रही हैं, जो इस तथ्य की परिचायक हैं कि प्रगतिवाद हिन्दी-साहित्य की जीवन्त प्रेरणाप्रद शक्ति है और वहाँ साहित्य की नवीन भूमि का निर्माण हो रहा है। प्रगतिवाद ने साहित्य के क्षेत्र में नवीन दिशा का प्रवर्त्तन किया और यह नवीनता अब दिन-ब-दिन बढ़ती ही जा रही है। किन्तु यह एक खेद का विषय है कि जहाँ प्रगतिवाद अपने तूफ़ान से चरण बढ़ाता हुआ अभिजात्यवर्ग की कला के शव पर नए निर्माण का बिगुल फूंकता हुआ अहरह गति से बढ़ रहा है, वहीं उसके आलोचकगण आज भी अपने पूर्व ग्रहों से मुक्त नहीं हो सके हैं। फलतः आलोचकों ने प्रगतिवाद पर जो दोष आज से १० वर्ष पहिले लगाए थे वे ही दोष वे आज भी लगा रहे हैं। हाँ, विरोध का स्वर अब कुछ उखड़ा-उखड़ा तथा विक्षिप्त-सा अवश्य लगता है। धर्मवीर भारती की पुस्तक 'प्रगतिवाद—एक समीक्षा' इस कथन का प्रमाण है।

प्रगतिवाद के प्रारम्भ से कुछ सामान्य आधार थे। एक तो यह कि वह युग की सामयिक परिस्थितियों को काव्य में प्रतिविम्बित करता है, जनता की विकासशील परम्परा में साहित्य अपना भी योग देता है। साथ ही प्रगतिवाद साहित्य को केवल मनोरंजन का साधन न मानकर उसकी सामाजिक उपयोगिता में विश्वास रखता है। दक़ियानूसी आलोचकों के मतानुसार इसी कारण उसका स्थान साहित्य की श्रेष्ठतम (कुण्ठा-जन्यता) से गिर जाता है और आनन्द की शुद्ध उपलब्धि उससे नहीं होती। इसी प्रकार के आक्षेप हैं जो आज तक के दक़ियानूसी आलोचक प्रगतिवाद पर लगाते आये हैं और उसका विरोध करते रहे हैं।

धर्मवीर भारती की पुस्तक इस दृष्टि से कोई नयापन नहीं रखती; क्योंकि इस प्रकार के कई आक्षेप एक बड़े पैमाने पर पहिले लगाये जा चुके हैं और अब वे इतने घिस गये हैं कि उनकी प्रभावात्मकता पूर्णतया नष्ट हो गई है। अस्तु प्रतिपादन के ढंग में भारतीजी ने एक नया पैंतरा खेला है। वह है रूसी साहित्य के इतिहास की गलत व्याख्या करना और जनता को गुमराह करते रहना। जनता से कहना कि प्रगतिवादी गलत कहते हैं, रूस में इसके ठीक विपरीत हुआ है आदि।

दूसरे प्रगतिवाद पर आज तक जितनी पुस्तकें लिखी गई उनका आधार केवल सुनी-सुनाई बातें रही हैं, जिससे यह स्पष्ट होने में जरा भी कठिनाई नहीं रहती कि लेखक को प्रगतिवाद के प्रारम्भिक सिद्धान्तों का भी ठीक ज्ञान नहीं है। श्री शिबचन्द्र शर्मा और विजयशंकर मल्ल की पुस्तकें इसी प्रकार की हैं। भारती का पैंतरा जरा कुछ भिन्न है। उनका तर्क उलटा है—भारत के प्रगतिवादी 'प्रगतिवाद' को नहीं जानते हैं। यद्यपि भारती की समझ आगे स्पष्ट हो जावेगी; किन्तु ये भी तो 'हौसले' हैं।

लेखक ने प्रारम्भ से ही रूसी साहित्य को अपने सिद्धान्तों के अनुकूल ढालकर उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है और भारत के प्रगतिशील लेखकों को सलाह दी है कि वे रूस के इस साहित्य का अनुकरण करें। यह बात उन्होंने जगह-जगह दोहरायी है। उनके मतानुसार भारतीय प्रगतिवादी अभी मार्क्सवाद और रूसी साहित्य को नहीं समझ पाए हैं वे लिखते है :

'मुझे बेहद आश्चर्य होता है कि जो भारतीय प्रगतिवादी बिना किसी तमीज के भारतीय धर्म परम्परा का विरोध करते हैं, उन्होंने भारतीय धर्म का तो अध्ययन ही नहीं किया। मुझे तो लगता है कि उन्होंने रूसी साहित्य भी पढ़ने की कोशिश नहीं की, या पढ़ा भी है तो शायद समझे नहीं।"

आलोचना की इस शैली पर बाद में लिखा जावेगा। क्योंकि यह गाली-गलौज तो इनकी पुस्तक का प्राण ही है। भारती धर्म के अध्ययन की बात कहते हैं। हम उन्हें सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि जिन प्रगतिशील लेखकों ने धर्म पर कलम चलाई है, (उदाहरणार्थ श्री राहुलजी, श्री भगवत-शरणजी उपाध्याय आदि) उनकी पुस्तकें एक बार भारती पढ़लें तो ज्ञात हो जावेगा कि इन लेखकों को कुछ 'तमीज' है या नहीं। पुस्तकों के नाम मैं नहीं बताऊँगा, बेहतर हो किसी लायब्रेरी का कैटलाग देख लें। रहा रूसी-साहित्य को पढ़ने और समझने का सवाल तो भारती को चाहिए कि वे किसी लायब्रेरी के सदस्य बनें और वहाँ से प्रगतीशील लेखकों द्वारा किया हुआ रूसी-साहित्य का अनुवाद पढ़ें, बाद में फतवा दें। कोटेशन पढ़कर मुँह मारने की आदत कहाँ तक ठीक है! हाँ, प्रगतिशील लेखकों ने रूसी साहित्य को पढ़ा था, तब मायकोवास्की के विद्रोह को शुद्ध शैलीगत नहीं समझा था; यह अब आप से सीखेंगे।

आगे हम लेखक द्वारा लगाए आरोप तथा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

उनका कहना है कि भारतीय प्रगतिवादी रूस का अन्धानुकरण करते हैं। 'लेकिन रूस और मार्क्सवाद का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी मैं उन्हें केवल अनेकों में से एक प्रयोग मानता हूँ और चाहता हूँ कि भारतीय प्रगतिवादी रूस का अन्धानुकरण न करें, वरन् अपनी सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप सर्वथा मौलिक साहित्य दें।'

आप महत्त्व स्वीकार करते हैं······भली बात है, धन्यवाद। प्रगतिशील लोग रूस का अन्धानुकरण करते हैं, यह कई जगहों पर लिखा गया है, परन्तु यह अन्धानुकरण क्या है, भारती नहीं बताते। साथ ही, चूँकि इस प्रकार के प्रयोग रूस में हो चुके हैं, अतः भारत में न किय जायें, यह तर्क कोई संगति नहीं रखता और न कोई बुद्धिमान व्यक्ति परिस्थितियों के अनुकूल किसी प्रयोग को अपनाने का अन्धानुकरण ही कह सकता है। रूस में लेखकों ने सामाजिक प्रगति में बढ़कर हिस्सा लिया है और यदि भारत का लेखक भी सामाजिक प्रगति में भाग लेता है तो वह अन्धानुकरण है, यह नहीं माना जा सकता।

जिन आधारों पर भारतीय प्रगतिवादियों को रूस का अन्धानुयायी कहने का साहस भारती करते हैं, उन्हीं आधारों पर तुलसी, कबीर, भारतेन्दु रवीन्द्र तथा प्रेमचन्द को भी रूस का अन्धानुयायी कहा जा सकता है। लेकिन यहाँ तर्क स्वयम् के पैर तराशने लगेगा। भारत की सम्पूर्ण प्रगतिशील परम्परा को रूस का अन्धानुकरण कहने का साहस आज तक कोई भी प्रतिक्रियावादी आलोचक नहीं कर सका है। हाँ, जब विरोधी वर्ग के स्वार्थों पर चोट होती है तो वे इसी प्रकार बौखलाया करते हैं। अन्त में सर्वथा नये और मौलिक साहित्य की बात उन्होंने की है, क्योंकि उनका मत है कि प्रगतिवादी साहित्य में कुछ नयापन नहीं है। वे लिखते हैं—'हिन्दोस्तान की कुछ ऐसी बदक़िस्मती रही कि यहाँ प्रगतिवाद का प्रवेश तब हुआ जब विदेशों में उसका दिवाला निकल चुका था। विदेशों की इस उतरन को हमने बड़े चाव से पहना, जबकि हमारे अपने साहित्य में किसी भी प्रगतिवाद से सौगुनी शक्तिशाली प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं।'

प्रगतिवाद को विदेश की उतरन कहकर तिरस्कृत करना प्रतिक्रियावादी हथकंडा है। प्रथम तो प्रगतिवाद ऐसा कोई मतवाद नहीं जो कहीं से लाकर लेखकों पर थोपा जा सके। क्योंकि वह तो अपने ही युग की परिस्थिति की देन है, उसकी जड़ें अपने देश की ही जमीन में होती हैं और वहीं से वह

खाद्य-पानी ग्रहण करता है। दूसरे उतरन का सवाल तो तब होता जब मानव का प्रगति से सम्बन्ध टूट जाता। विश्व की गतिशीलता तथा उसका विकास समाप्त हो जाता। जब तक मानव और प्रगति का सम्बन्ध है इस प्रकार का कथन प्रगतिवाद के दिवालियेपन का नहीं, लेखक के खुद के दिमाग़ के दिवालियेपन का परिचायक है। हाँ, एक बात मज़ेदार है—भारत के प्रगतिशील लेखकों को भारती का ये गुरुमंत्र मान लेना चाहिए, तथा अब इस 'उतरन' को उतार फेंकना चाहिये एवं सर्वथा नवीन और मौलिक तथा किसी भी प्रगतिवाद से सौगुना शक्तिशाली साहित्य देने के लिए छायावाद की ओर लौट चलना चाहिए। क्योंकि लेखक के मतानुसार रूस भी अपने प्राचीन तथा सर्वथा नए (प्राचीन है तो नया कैसा) साहित्य की ओर लौट आया है। अब भारती बताएँ कि यदि हिन्दी के इन बेसमझ प्रगतिशील लेखकों को छायावाद भी विदेशों की उतरन दिखाई दे तो क्या करना चाहिए। आपकी दृष्टि से तो वहाँ किसी भी प्रगतिवाद से सौगुना शक्तिशाली साहित्य लिखा जा रहा था। पर आचार्य शुक्ल जी को तो छायावाद पश्चिम के कलावाद एवं अभिव्यंजनावाद की जूठन नज़र आता है तथा उनकी दृष्टि से छायावाद शेले, कीटस् तथा वर्ड्सवर्थ के साहित्य का छायानुवाद मात्र है। आप बतलाइये कि अब प्रगतिवादियों को क्या करना चाहिए। सर्वथा मौलिक एवं नया साहित्य तथा किसी भी प्रगतिवाद में सौगुना शक्तिशाली साहित्य लिखने के लिए क्या उन्हें और भी पीछे जाना होगा? क्या देव और पद्माकर की कोटि में बैठकर प्रगतिशील लेखक भी घनाक्षरी और सवैयों की शैली में बारहमासा और नायिका भेद लिखना प्रारम्भ कर दें?

भारती का दूसरा नारा है कि प्रगतिवादी मार्क्सवाद को नहीं समझते। इसके लिए उन्होंने कई स्थानों पर कलम चलाई है। इस सबका कारण यह है कि मार्क्सवाद का श्री धर्मवीर भारती ने एक नवीन संस्करण तैयार किया है और इस नवीन संस्करण को समझने में भारत के प्रगतिवादी नाक़ाबिल रहे हैं। क्योंकि इस संस्करण की अपनी कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं। श्री भारती के मतानुसार मार्क्सवाद व्यापक तथा संकीर्ण है। (व्यापक है तो संकीर्ण कैसा?) वे लिखते हैं:

'मैं प्रगतिवाद के उन शब्दों का विरोधी हूँ जो मार्क्सवाद के व्यापक संदेश को समझे बिना, रूसी साहित्य का अध्ययन किये बिना, प्रगतिवाद के खिलाफ़ गुहार मचाते हैं।'

'मार्क्सवाद की संकीर्णता का परिहार कर उसे एक व्यापक राज-मार्ग बनाना होगा।'

ऊपर दिये हुए दोनों उद्धरणों को मिला दीजिए तो मार्क्सवाद का एक संस्करण तैयार हो जावेगा।

मार्क्सवाद व्यापक क्यों है, यह भारती जी नहीं बताते। शायद विरोध के लिए एक-आध वाक्य प्रशंसात्मक लिख देना निष्पक्षता का सूचक है। मार्क्सवाद की संकीर्णता क्या है, यह सारी पुस्तक में व्याप्त है। मार्क्सवाद को संकीर्ण इसलिये कहा जाता है कि वह पूंजीपतियों के बुर्जुआ मनोविज्ञान का अपने में समावेश नहीं करता। उसका आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है जिसके अनुसार भारती जी की आध्यात्मिकता का कोई ठिकाना नहीं है। क्योंकि वह संकुचित और राष्ट्रीय स्वयं-सेवक-संघ की 'राष्ट्रीयता' को राष्ट्रीयता नहीं मानता। क्योंकि वह सांस्कृतिक अहमन्यता को एक फासिस्ट प्रवृत्ति मानता है। भारती की राष्ट्रीयता इस पुस्तक में कई जगह उभरी है। और उन्होंने इस राष्ट्रीय साहित्य की माँग भी की है। वे लिखते हैं :

'लेकिन फिर भी रूस की संस्कृति उतनी वैभवशाली नहीं जितनी हमारी संस्कृति रही है। अतः अभी रूसी साहित्य वह स्थायी व सशक्त जीवन दर्शन नहीं खोज पाया है जिसकी खोज का सौभाग्य भारतीय साहित्य को मिलने वाला है, क्योंकि हमारे पास अग्निशिखा-सा देदीप्यमान संदेश है और अब हम उसकी ज्योति विकीर्ण करने के लिये स्वतन्त्र हैं।'

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि सारी पुस्तक में भारती जी ने रूसी साहित्य की प्रशंसा में जो कुछ लिखा है, सब झूठ है, फ़रेब है जालसाज़ी है। क्योंकि उनके दृष्टिकोण से रूसी साहित्य अभी वह स्थायी और सशक्त जीवन-दर्शन नहीं खोज पाया है, जिसकी खोज का सेहरा श्री भारती तथा श्री इलाचन्द जोशी के ही सिर पर बँधने वाला है।

भारती के उदाहरण में उनकी राष्ट्रीयता का स्वरूप झलकता हुआ नज़र आता है। वे मानते हैं कि जीवन का देदीप्यमान संदेश उन्हीं के पास है। वस्तुतः विचार करें तो ज्ञात होगा कि राष्ट्रीयता का यह स्वरूप भारती का अपना नहीं है। न भारती दावा ही कर सकते हैं कि इस महान् राष्ट्रीयता का आविष्कार १९५० में उन्होंने ही किया है। इस राष्ट्रीयता की तो एक परम्परा है, जिसके जनक हिटलर की मूँछ के वे बाल हैं जो हिन्दुस्तान में दाढ़ी बनकर बढ़ रहे हैं और काली नेकर तथा काली टोपी

लगाकर सैकड़ों नौजवान डंडे फिराकर उसका रोज सांस्कृतिक पोस्टमार्टम किया करते हैं। जरा 'राष्ट्रधर्म' में प्रकाशित श्री गोलवलकर के निम्न कथन से भारती जी के उपरोक्त वाक्य को मिलाइये तो सब ज्ञात हो जायेगा :

'हमारी यह आत्मश्लाघा नहीं अटल सत्य है कि जब कभी संसार की कोई भी जाति भौतिक योग्यता की सीमित योग्यता को अवगत करके अमरत्व की प्राप्ति के लिये व्याकुल होगी तब उसे हमीं से दीक्षा करनी होगी।'

(राष्ट्रधर्म, मार्गशीर्ष, २००४ पृष्ठ १८)

स्पष्ट है कि दोनों में कोई तात्विक अंतर नहीं है। लेखक के इसी राष्ट्रीय दृष्टिकोण को समझने के बाद उनके द्वारा रूसी साहित्य को किस प्रकार तोड़ा-मरोड़ा गया है, साफ़ हो जाता है। उनका कथन है कि रूस भी वैसे ही राष्ट्रीय साहित्य का सृजन कर रहा है जिसकी व्याख्या श्री गोलवलकर कर चुके हैं।

"लेकिन प्रगतिवादियों के दोषों के कारण हमको रूसी प्रगतिवादियों का मूल्य कम नहीं करना चाहिए। उन्होंने सचमुच अपने सच्चे (कट्टर) राष्ट्रीय-साहित्य का निर्माण किया है।"

इसी प्रकार आर.ए.पी.पी. के तोड़े जाने का कारण भारती ने आवरबाख की वर्गवादी नीति बताई है। कोई हर्ज नहीं, गवाही चाहिए तो हिन्दुस्तान के महान् लेखक श्री शिवदानसिंह जी चौहान का 'प्रगतिवाद' उठा कर देख लीजिये। यह कथन मूलतः ग़लत है। आर.ए.पी.पी. भंग होने का कारण स्टालिन के अनुसार उसमें घुसे दक़ियानूसी लेखक थे, जो संस्था को ग़लत रास्ते पर ले जा रहे थे और इसी कारण उक्त संस्था भंग हुई।

भारती जी के द्वारा इतिहास को तोड़े जाने तथा उसकी ग़लत व्याख्या किये जाने का यह तरीक़ा देखिये। भारती जी लिखते हैं :

"रूस में परिस्थिति कुछ दूसरी ही रही। जिस समय रूस में क्रान्ति हुई और नई चेतना को विकास पाने का अवसर मिला, उस समय रूसी-साहित्य टेकनीक के प्रयोगों में मस्त था।······मायकोवास्की जिसने अपने को प्रोलेतेरियत वर्ग का कवि घोषित किया था—का विद्रोह भी मूलतः शैलीगत विद्रोह था।"

सबने यह सुना होगा (भारती के अनुसार पढ़ने की कृपा तो किसी ने की ही नहीं है। पृष्ठ १६०) कि मायकोवास्की ने युग की सामाजिक

विषमताओं से विद्रोह कर नई भविष्यवादी कविता का प्रवर्तन किया था और रूस के अधिकांश लेखकों ने उसमें भाग लिया था। किन्तु भारती कहते हैं— मायकोवास्की का विद्रोह शैलीगत था। रूस के साहित्यकारों ने अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को समझा था और उसे बड़े शानदार तरीक़े से निभाया भी था। किन्तु इस लेखक के मतानुसार रूस की सारी क्रांतिकारी परम्परा टेकनालॉजिस्ट थी। वह क्रान्ति के समय प्रयोगशाला में बैठी प्रयोग कर रही थी। आखिर ऐसा लिखने में लेखक का तात्पर्य क्या है? रूस की शानदार परम्परा की वह इस प्रकार ग़लत व्याख्या क्यों कर रहा है? वह ऐसा लिख कर लेखकों पर क्या प्रभाव छोड़ना चाहता हैं। स्पष्ट है कि लेखक अन्य लेखकों से परोक्ष रूप से यही कहना चाहता है कि आपका विद्रोह (मूलतः) शैलीगत हो, फिर चाहे आप उसे सामाजिक रूप दे दें।

भारती जी से पूछा जाये कि फिर सामाजिक रूप क्यों दे दें...जनता को धोखा देने के लिए? और क्या मायकोवास्की ने भी यही किया है?

इसी प्रकार नए लेखकों का मनोबल तोड़ने के लिए भारती लेखकों के व्यक्तिगत-स्वार्थ को उभारते हैं और उसके लिए रूस के साहित्य का सहारा लेते हैं। उनका कहना है—लेखक सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाये या नहीं—यदि समाजवाद आ भी गया तो उसकी तो क़द्र होगी ही। वह जनता से अपना सम्बन्ध जोड़े या नहीं, ज़िंदगी का गीत गाए या मर्सिया गाता रहे, अस्वस्थ प्रेम के गीत अलापता रहे उसे किसी प्रकार की कमी होने वाली नहीं है। समाजवादी दुनिया में उसे भी उतना ही सम्मान मिलने वाला है जितना कि एक जनता के लिए लड़ कर मरने वाले कवि को और व्यक्ति-स्वार्थ को भड़काने के लिए वे कहते हैं—उसकी (लेखक की) कविताएँ भी पाठ्य-क्रम में उतनी ही रखी जएँगी जितनी क्रान्तिकारी कवि की। फिर क्या आवश्यकता है कि कवि व्यर्थ में ही सामाजिक संघर्षों में फँसता फिरे? इसके लिए भारती ने मायकोवास्की और येसेनिन का उदाहरण पेश किया है:

"सन् ४३ में सरकार की ओर से रूसी कविताओं का एक संग्रह छपा है जिसमें मायकोवास्की और येसेनिन दोनों को समान स्थान है। दोनों की २१-२१ गीत हैं। येसेनिन का मृत्यु-पर्व भी सरकार की ओर से मनाया जाने लगा है।"

येसेनिन को मायकोवास्की के समान स्थान मिला हो, व उसका मृत्यु-पर्व भी सोवियत सरकार मना रही हो, यह दूसरी बात है···इसका उत्तर येसेनिन का काव्य है न कि उसकी क्रान्ति-विमुखता। किन्तु इस उदाहरण के द्वारा भारती किस तरकीब से एक ओर छिपा कर नए लेखक के हृदय में छोड़ा

हैं। सामाजिक संघर्ष करने से क्या फ़ायदा है ? छोड़ो प्रगतिशील कविता लिखना…लिखना शुरू करो 'मिलन-यामिनी' या 'इन फ़ीरोज़ी ओंठों पर बरबाद मेरी ज़िंदगी'। मध्यवर्गीय नए प्रगतिशील लेखक को भारती गंडा भेजते हैं, इस संघर्ष से क्या फ़ायदा ? बेकार सरकार की कोप-दृष्टि के भाजन बनेंगे और जो लोग आज प्रेम के गीत लिख रहे हैं उन्हें भी समाजवादी व्यवस्था में तुम्हारे समान ही स्थान मिलेगा। यह एक अव्यक्त और छिपी हुई ध्वनि है जो भारती द्वारा दिये गये इस उदाहरण से लिपटी हुई चली आ रही है और जिसके द्वारा लेखक नए लेखकों का मनोबल तोड़ने की कोशिश करता है। विचारना चाहिये कि लेखक सत्य को इस ढंग से क्यों उपस्थित करता है ? लेखकों के मनोबल को क्यों तोड़ना चाहता है ? साफ़ सी चीज़ है वह किसी वर्ग विशेष के स्वार्थ के लिए एक मोहरा बन गया है। इसीलिए हिन्दी की प्रगतिशील धारा पर उसने मनचाहा प्रहार किया है—वैसे तो हिन्दी की इस प्रगतिशील-धारा का विवेचन इस पुस्तक का विषय नहीं रहा है। इसका विषय तो केवल गाली-भर देना है। अतः कहीं भी प्रगतिशील-साहित्य के विश्लेषण का सद्प्रयत्न आलोचकप्रवर ने नहीं किया है। गाली-गलौज के लिए उसने कुछ लेखकों की रचनाएँ भर गिनाई हैं। लेखक ने इसी गाली-गलौज के सिलसिले में लिखा है—

"कुछ ऐसा लगा कि समस्त मान्यताओं को उखाड़ कर फेंकने पर तुल गए थे और इसी बहाने अपने मन की दबी हुई वासनाओं को अभिव्यक्त कर एक विकृत, अस्वस्थ मानसिक सन्तोष का अनुभव करते थे, कविता में बिहार के रमण की 'मास्को' एक अनूठी कृति है जिसका बहुत स्वागत किया गया था और जिसमें मास्को का प्रगतिवादी कवि नगर की होनस्ट नारियों की लटकी हुई छातियों और ग्राम-युवतियों की कच्ची नाशपाती से वक्ष का चित्रण कर क्रान्ति की चेतना उत्पन्न करता है।"

इसके सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि इस कथन में झूठ को भी ऐसा असंगत-रूप दिया है कि असमय ही उसे कोढ़ फूट आया है। बिहार के रमण की मास्को निश्चय ही एक पतनशील रचना है। इसमें अश्लीलता भी सीमा लाँघ गई है, किन्तु प्रगतिशील क्षेत्रों में उसका स्वागत हुआ तथा प्रगतिशील लोग उसे पचा गए यह कथन नितान्त मिथ्या है। इस पुस्तक का विरोध करते हुए अमृतराय ने अपने 'हंस' में लिखा था।

"सभी कविताएँ पाठकों की सुरुचि पर आघात करती हैं और साहित्य

के किसी भी मान से उन्हें पतनशील कहा जा सकता है। हिन्दी में ऐसी कविताएँ प्रकाशित होते देख माथा शर्म से झुक जाता है। इस गंदगी को कवि ने अपने तक ही रखा होता तो हिन्दी के पाठक कितना उपकार मानते।"

—(नई समीक्षा से)

इससे साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि भारती किस प्रकार झूठ को सच बना कर पेश कर रहे हैं। बेहतर होता प्रगतिवाद पर पुस्तक लिखने के पहले भारती प्रगतिशील पत्रों में प्रकाशित सामग्री नहीं पढ़ते तो कम से कम सम्पादकीय टिप्पणियाँ अवश्य पढ़ लेते, परन्तु पुस्तक को पढ़ने से ज्ञात होता है कि लेखक ने 'हंस' की सब नहीं तो कुछ सम्पादकीय टिप्पणियाँ अवश्य पढ़ीं हैं। फिर भी चेतन रूप से लेखक का यह कथन कि प्रगतिशील लोग इस गन्दे साहित्य को पी गए, भारती की महान ईमानदारी की निशानी है।

प्रगतिशील साहित्य पर लेखक का दूसरा आक्षेप है कि वह कलापक्ष से हीन है। उसमें कला मर गई है। इस विषय पर भारती जी ने पूरा एक अध्याय लिखा है। उम्मीद की जाती थी कि भारती सम्पूर्ण प्रगतिशील साहित्य का विश्लेषण करके बतलायेंगे कि उसमें किस प्रकार से कला का अभाव है। आशा थी कि वे पहिले कला के तत्त्वों का विवेचन करेंगे जो साहित्य के आधार हैं और उसके बाद कवियों में—अंचल, नरेन्द्र, सुमन, केदार,, नागार्जुन, शील, राकेश, शैलेन्द्र आदि, उपन्यासकारों में यशपाल, अश्क, सागर, राधाकृष्ण, रांगेय राघव, भैरवप्रसाद आदि, निबन्ध लेखकों में रामविलास, भगवतशरण उपाध्याय, राहुल, महेन्द्रचन्द्र राय, विश्वनाथ नरवाणे आदि तथा साहित्य की अनेक विधाओं के लेखकों की रचनाओं की समीक्षा करेंगे और बतलायेंगे कि प्रगतिशील साहित्य में किस प्रकार से कलात्मक तत्त्वों का अभाव हो गया है, परन्तु खेद है कि इस पूरे अध्याय को पढ़ने के बाद उन लेखकों के नाम भी मालूम नहीं होते कि जिन्होंने कला का गला घोंट दिया है। इस पूरे अध्याय में चार बातें स्पष्ट रूप से नज़र आती हैं। ये निम्न हैं—

(१) रूस के लेखक प्रारम्भ से ही टेकनालाजिस्ट रहे हैं। हमें प्रयोग करना चाहिए।

(२) हमें छायावाद की शैली अपनाना चाहिए।

(३) चौहान जी ही ईमानदार लेखक हैं, पर उन्हें अपेक्षित स्थान नहीं मिला।

पहिले तर्क पर हम विवेचन कर आये हैं कि लेखक ने किस प्रकार मायकोवास्की को प्रयोगवादी सिद्ध किया है। छायावाद की शैली अपनाना चाहिए और नए प्रयोग करना चाहिए ये दो परस्पर विरोधी बातें हैं। दूसरी बात छायावाद की ओर लौट चलने की है, वह एक विक्षिप्त स्वर है। छायावाद की शैली में जो अच्छाइयाँ हैं उन्हें प्रगतिशील लेखक ग्रहण कर रहे हैं और दुरूहता, अस्पष्टता आदि दोषों का उन्होंने परिहार भी किया है। हाँ, भारती संकेतवाद को भी मनवाना चाहते हों तो उसे प्रगतिशील लेखक मानने को तैयार नहीं है, क्योंकि वह छायावादी अस्पष्टता का एक अंग मात्र है, अंगी नहीं।

तीसरी चीज़ विचित्र है। भारती के हृदय में न जाने क्यों श्री शिवदानसिंह जी के प्रति श्रद्धा का सागर उमड़ा और उन्होंने उनकी स्तुति में गद्य रचना शुरू कर दी। क्योंकि उनके मतानुसार केवल श्री शिवदानसिंह जी चौहान ने ही कलात्मकता का मूल्य पहिचाना है। मेरे एक मित्र का विचार है कि भारती की इस श्रेष्ठ आलोचनात्मक (सृजनात्मक?) कलाकृति के प्रेरणासूत्र सिवाय श्री चौहान जी के और हो ही कौन सकता है।

इस अध्याय के अन्त में लेखक ने लिखा है—

'दृष्टिकोण की संकीर्णता और कलात्मकता की उपेक्षा के कारण भारतीय प्रगतिवादी साहित्य में आज न तो प्रगति है न साहित्यिकता।'

यह फ़तवा देने के पूर्व यदि लेखक महोदय ने प्रगतिशील साहित्य नहीं पढ़ा था तो कम-से-कम प्रगतिवाद के विरोधी आलोचक पं० नन्ददुलारे बाजपेयी ने प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में जो मत प्रदर्शित किया है उसी को ध्यान से पढ़ लेते। श्री वाजपेयी लिखते हैं—

'आज हिन्दी में श्रेष्ठ-साहित्य सृजन के कौन से क्षेत्र हैं? निश्चय ही समाजवादी विचारों के क्षेत्र। क्यों? क्योंकि उन्हीं क्षेत्रों ने इस समय नवीन प्रतिभा को आकर्षित कर रखा है। क्यों नहीं आज प्रचलित धार्मिक क्षेत्रों में श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाएँ और सुन्दर कला का निर्माण हो रहा है? क्यों आज वे पुरानी अनुकृति से ही अथवा दूसरे नवीन क्षेत्रों की प्रगतिशील शैलियों को अपनाकर ही संतोष कर रहे हैं? स्वतः नई भूमि क्यों नहीं तैयार करते?'

अकेले वाजपेयी जी ही नहीं, प्रगतिवाद के विरोधी हिन्दी के पच्चीसों आलोचकों के मत यहीं उद्धृत किये जा सकते हैं। परन्तु जो ईमानदारी को ताक में रख कर गालियाँ देने बैठे हों उसके लिये क्या कहा जाय?

(४) प्रगतिवाद से भारती को चौथी शिकायत यह है कि उनके द्वारा पारिभाषित राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करता। इस विषय पर भी पूरा एक अध्याय है जिसे दो भागों में बाँटा जा सकता है। (१) प्रगतिवादी व्यर्थ ही प्रसाद जी को पलायनवादी कहते हैं और (२) रूस में सामन्ती-साहित्य का सृजन हो रहा है।

जहाँ तक पहिला आक्षेप है प्रसाद जी को पलायनवादी प्रगतिवादियों ने बाद में कहा है। उनके पहिले ही हिन्दी के बीसों अन्य आलोचक उन्हें पलायनवादी घोषित कर चुके थे और जिनमें से कई तो पुराने रसशास्त्री रहे हैं। किन्तु—खैर, बावजूद इस सबके यदि भारती इसका श्रेय प्रगतिशील आलोचकों को ही देना चाहते हैं तो हमें कोई आपत्ति नहीं। नेकी और पूछ-पूछ। प्रसाद जी के नाटकों के विषय में हिन्दी के प्रगतिशील आलोचक डॉ० रामविलास ने लिखा है कि—'प्रसाद जी की प्रतिभा उनके नाटकों में 'कामायनी' की अपेक्षा अधिक प्रस्फुटित हुई है' और इस पर भी यदि भारती जी कहते हैं कि प्रगतिशील आलोचक प्रसाद जी के नाटकों के निन्दक हैं तो क्या कहा जाय? आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के विचार और वितर्क की आलोचना करते हुए डॉ० रामविलास ने प्रसाद जी के नाटकों के सम्बन्ध में अपनी राय जाहिर की है परन्तु उसे पढ़ने का कष्ट श्री भारती ने नहीं किया। कहीं भारती डॉ० नगेन्द्र को प्रगतिशील आलोचक तो नहीं समझते हैं, क्योंकि प्रसाद जी के प्रशंसक रहते हुए उन्हें पलायनवादी घोषित करने में वे सबसे आगे रहे हैं।

और जहाँ तक दूसरे आक्षेप का सवाल है कि रूस में सामन्ती साहित्य का सृजन हो रहा है, एक बेबुनियाद बात है, जो प्रकट करती है कि लेखक अभी राष्ट्रीयता के 'क' 'ख' 'ग' से भी परिचित नहीं है। लेखक के कथन की परस्पर विरोधी और असंगत बातें इसकी साक्षी हैं। देखिए रूस की राष्ट्रीयता उदार है या कट्टर?

'यह उदार राष्ट्रीयता जो अपने गर्व के साथ दूसरों का सम्मान भी पहिचानती है हर जाति के लिये एक गौरव की चीज होती है और महान् रूसी जाति के लिये भी यह राष्ट्रीयता, गौरव और दृढ़ता की चीज है। यह रूस की संस्कृति और प्रतिष्ठा को बल और प्रेरणा देगी।'

(पृष्ठ ७९)

'लेकिन भारत के प्रगतिवादियों के दोषों के कारण हमको रूसी प्रगतिवादियों का मूल्य कम न करना चाहिए। उन्होंने सचमुच अपने सच्चे राष्ट्रीय (कट्टर) साहित्य का निर्माण किया है।'

पाठक बताएँ कि रूसी-साहित्य में कट्टर राष्ट्रीयता पनप रही है या उदार ? या राष्ट्रीयता का एक गप्पमूलक 'धर्मवीर भारती संस्करण' ?

भारती ने राष्ट्रीय इतिहास के आधार पर साहित्य-सृजन की बात कही है। वस्तुतः इतिहास के लिये यह दृष्टिकोण पूर्णतया अवैज्ञानिक तथा भ्रमोत्पादक है। इतिहास के राष्ट्रीय दृष्टिकोण पर विवेचन करते हुए सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता श्री भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है—

'शुद्ध वैज्ञानिक रूप में इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय होता है। राष्ट्रीय इतिहास अवैज्ञानिक और अशुद्ध है। जिस प्रकार राष्ट्रीय औषधि, राष्ट्रीय रसायन, राष्ट्रीय विज्ञान नहीं हो सकते, वैसे ही राष्ट्रीय इतिहास भी नहीं हो सकता।'

और भी आगे उन्होंने लिखा है—

'राष्ट्रीय इतिहास की ही बुनियाद का फल है कि अतिस्त्रीगामी, विलासी पृथ्वीराज युद्ध से भागता हुआ सरस्वती तट पर मारा जाकर भी अमर है और नरपुङ्गव जयचन्द अपनी मुट्ठी भर सेना के साथ अस्सी वर्ष की बुढ़ौती में चंद्रावर के मैदान में शहीद होकर भी कायरता और देशद्रोहिता का प्रतीक बना हुआ है। इतिहास की राष्ट्रीयता पर यह विकट व्यंग है, अमोघ और अमिट।

इतिहास न पढ़कर भी इतिहास के दृष्टिकोणों का विवेचन ही यदि लेखकों को अभीष्ट हो तो फिर क्या कहा जा सकता है ?

'प्रगतिवाद और रोमांटिक प्रेम' के नाम पर एक पूरा लेख लेखक ने लिखा। इसमें लेखक यह मानकर ही चला कि प्रगतिवाद रोमांस का विरोधी है। समझ में नहीं आता कि लेखक ने यह स्थापना क्यों कर ली ? किसी भी प्रगतिशील लेखक का यह कहना नहीं है कि प्रगतिशीलता के क्षेत्र से प्रेम को बहिष्कृत कर देना चाहिए। उलटा प्रगतिशील लेखकों ने तो यह लिखा है कि—'और जिसके हृदय में प्रेम की नदी न बहे वह कवि ही क्या ?' (डॉ० रामविलास, तारसप्तक का वक्तव्य,) प्रगतिशील कवियों के काव्य, उपन्यासकारों के उपन्यास, आए दिन प्रकाशित होने वाली कहानियाँ भारती की इस बात को झूठा सिद्ध करती हैं। फिर भी लेखक ऐसा क्यों लिखता है कि

प्रगतिशील साहित्य ने प्रेम को अपने क्षेत्र से बाहर निकाल दिया है। साफ़-सी चीज़ है या तो लेखक ने प्रगतिशील साहित्य को पढ़ने की चेष्टा नहीं की और यदि उसने पढ़ा है तो यह स्पष्ट प्रकट होता है कि लेखक एक ख़ास तरीके के प्रेम का प्यासा है और उसी को वह प्रगतिशील साहित्य में ढूंढ़ रहा है। खेद है प्रगतिशील साहित्य आपको वह विशेष प्रकार का प्रेम देने में असमर्थ है। प्रगतिशील साहित्य में नए सामाजिक प्रेम का प्रारम्भ हो रहा है। उसमें न तो छायावाद का कुण्ठाजन्य, मनोमय, परोक्षरति, अस्वस्थ प्रेम है और न प्रगतिशील साहित्यकार देव और बिहारी की पंक्ति में बैठकर सामन्तवाद की हिमायत करते हुए नारी के कुचों पर कविता का ताजमहल खड़ा करना चाहते हैं। वे ऐसे घृणित कार्य को प्रेम नहीं मानते। वे इसके सख्त विरोधी हैं। भारती बतलाएँ कि वे कैसा प्रेम चाहते हैं, शेखर की तरह का ?

प्रेम की कोई निश्चित परिभाषा न होने के कारण लेखक उलझन में पड़ गया है। इसीलिए उसने हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य को छूने की कृपा नहीं की। येसेनिन का उदाहरण देकर यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि रूस का कवि बड़ा प्रेमी जीव था। वह आजीवन सामाजिक संघर्ष से विमुख रहा और प्रेम-गीत गाता रहा और अन्त में समाजवादी रूस में उसे भी क्रांतिकारी कवि मायकोवास्की के समान स्थान मिला। प्रथम तो यही कि किसी कोर्स-बुक के उदाहरण से यह सिद्ध नहीं हो पाता कि रूसी जनता का मानस येसेनिन और मायकोवास्की दोनों के प्रति समान रूप से श्रद्धावान है। परन्तु भारती की बात दूसरी है, जो जन-मानस को समझने का सबसे बड़ा प्रमाण कोर्स-बुक को मानते हैं। ख़ैर, आपने येसेनिन पर कृपा की, अन्यथा······! येसेनिन रोमांटिक प्रेमी तो रहा है, पर वह वैसा ही जैसे हमारे यहाँ के अंचल, माथुर और नरेन्द्र आदि हैं। केशवदास की मस्ती का उसमें अभाव था, यह आपने नहीं लिखा।

जिस प्रकार लेखक को प्रगतिशील साहित्य में किसी प्रकार का विशेष प्रेम नहीं दिखाई दिया, उसी प्रकार उसे प्रगतिशील साहित्य में एक विशेष प्रकार के स्थायीपन, पुरानापन तथा शाश्वतता का अभाव दृष्टिगत हुआ।

किन्तु यह देख कर कि आज के युग में न तो सामन्तों की प्रशंसा की जा सकती है, न ऋतुसंहार ही लिखा जा सकता है और न ही नायिकाभेद के रथ में पगड़ी लगा कर लेखक घूमने को ही तत्पर होगा। लेखक ने पुराने विषय पर लौटना ठीक नहीं समझा। लेखक ने मान लिया कि 'साहित्य का

विषय आज का मानव हो।'. (हम पूछना चाहते हैं कि क्यों नहीं ऐतिहासिक विषय-वस्तु को स्पर्श किया जावे, क्या लेखक के पास इसका कोई उत्तर है ?) परन्तु आज के मानव को साहित्य का विषय बनाते ही लेखक की शाश्वतता (जो वस्तुतः एक उलझन है) पर चोट आती थी। अस्तु, लेखक चट से पैंतरा बदल कर लिखता है—'लेकिन ढंग केवल स्थायी और सामयिक न हो, शाश्वत और चिरन्तन हो।' विचित्र भाषा है। कहना तो चाहिए कि चिरन्तन भाषा लेखक ने लिखी है। लेखक लिखता है—'ढंग केवल अस्थायी न हो।' याने अस्थायी ढंग के साथ भी वह कुछ हो। याने ढंग अस्थायी हो तथा जैसा कि आगे कहा गया है, चिरन्तन भी हो। निश्चय ही प्रत्येक व्यक्ति मान लेगा कि भारती के इस वाक्य का ढंग केवल अस्थायी और सामयिक ही नहीं, शाश्वत और चिरन्तन है। दूसरी बात जो इस वाक्य से प्रकट होती है वह और भी अचरज उत्पन्न करने वाली है। अभी तक के शाश्वतवादी विषयवस्तु के सामयिक होने पर चिढ़ा करते थे। भारती जी का शाश्वतवाद इस दृष्टि से पूर्णतः मौलिक है। इसके अनुसार 'ढंग' (रूप या शैली) के भी दो भेद होते हैं। (१) सामयिक और (२) शाश्वत या चिरन्तन। शैली का चिरन्तन स्वरूप कैसा होता है ? यह लेखक ने नहीं बताया। हाँ, यदि पाठक चाहें तो ढूंढ़ सकते हैं। लेखक प्राचीन, शाश्वत और क्लॉसिकल को इस प्रकार गुड़-गोबर बनाकर प्रस्तुत करता है कि तीनों परस्पर पर्यायवाची प्रतीत होने लगते हैं। यह करिश्मा भी देखिये।

'वे (सोवियत साहित्यिक) साहित्य के प्राचीन रूपों की ओर इतना अधिक झुक गये हैं कि बोलिट्ज़ की वर्त्तमान रूसी साहित्य को Classical Realist या 'शाश्वत यथार्थवादी' कह कर पुकारता है।'

'लेकिन आज २०-३० वर्ष के प्रयोग के बाद रूस फिर पुराने शाश्वत साहित्य की ओर लौट आया है।'

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन, शाश्वत, क्लॉसिकल आदि शब्दों के विषय में लेखक का दृष्टिकोण उलझन से भरा हुआ है। आलोचना के क्षेत्र में प्रचलित शब्दों को आलोचना में जोड़ने का मोह भी तो बड़ी चीज़ है !

इस अध्याय में लेखक ने दो बातों पर जोर दिया है—(१) साहित्य में पुरानापन, स्थायीपन तथा शाश्वतता होनी चाहिए। (२) साहित्य वर्ग-निरपेक्ष होना चाहिये।

जहाँ तक पुरानेपन का सवाल है, आपका साहित्य में पुरानापन लाने

का कोई अर्थ नहीं होता। हाँ, वैसे रूढ़ि तथा परम्परा के रूप में प्राप्त हमारे साहित्य की सांस्कृतिक विशेषताएँ नई पीढ़ी की भूमि के काव्य रूप में मिलेंगी ही। परन्तु भारती का आग्रह विशेष प्रकार का है। रूप के एक इंजीनियर का (कवि का नहीं) मत उद्धृत कर उन्होंने प्राचीन शैलियों की ओर लौट चलने की बात को दोहराया है। यह उद्धरण इस प्रकार है—कांस्ट्रक्टिविज़्म भद्दी और बुरी शैली है। कांस्ट्रक्टिविज़्म यानी इमारतों की शैली···हम लोगों को अब पुरानी और सुन्दर शैलियों की ओर लौट आना चाहिए।'

भारती इस प्रकार दबी ज़बान से क्यों कहते हैं। जो कुछ कहना चाहते हैं खुल कर कहें, एक दम निडरतापूर्वक। वे हिन्दी के लेखकों को किस पुरानी शैली की ओर ले चलना चाहते हैं? छायावाद की अस्पष्ट और मनोमय शैली की ओर या द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता की ओर (अथवा इन्हें भी आधुनिक मान कर) रीतिकाल की बारहमासा लिखने वाली या गंगभाट, केशवदास अथवा पृथ्वीराजरासो की शैली की ओर? निश्चय ही यह एक बहकी हुई बात है, जिसका कोई तात्त्विक आधार नहीं।

अपने प्राचीन साहित्य का प्रगतिशील साहित्यकार बड़ा ही आदर करते हैं। किन्तु भारती का कथन है कि वे (प्रगतिशील लेखक) प्राचीन साहित्य के उपेक्षक हैं। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि भारत में अमेरीकन डालर असर दिखा रहा है। तभी तो भारती जी जैसे कला-पारखी को झूठ बोलना पड़ रहा है।

दूसरी बात शाश्वतता की है—'शाश्वत' का अर्थ होता है—स्थायी, कभी पुराना न होने वाला, एक रस, नित्य नूतन। विश्व परिवर्तनशील है और उसी के आधार पर जीवन और उसका प्रतिविम्ब साहित्य भी। फिर शाश्वतता की बात कोई मूल्य नहीं रखती। हाँ, स्थायी का अर्थ यदि यह लिया जावे (जैसा कि लेखक खुद नहीं सोचता) कि साहित्य केवल ऐसा न हो जिसका महत्त्व अल्पकालिक हो, तो इसके लिए रचना में साहित्यिक गुणों का उत्कर्ष आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि साहित्य युग-सत्य से दूर रहे, या सामयिक समस्या का उसमें प्रवेश न हो। उदाहरण के लिए तुलसीदास के 'मानस' या 'कवितावली' को ही लें। दोनों के स्थायित्व का कारण यह नहीं कि ये ग्रन्थ अपने समय की आन से दूर रहे। उनमें जलता हुआ युग-सत्य युग कवि ने उतारा है। स्वयं आ० शुक्ल ने कहा है कि कवितावली में तुलसीदास जी ने अपने ही समय की परिस्थिति का चित्रण किया है। उनके

काव्य के महत्त्व का कारण उनका समाज के प्रति जागरूक और स्वस्थ दृष्टिकोण है। अस्तु किसी भी काव्य या साहित्यिक रचना में स्थायित्व का गुण इसलिए नहीं आता कि वह सामयिकता से निरपेक्ष हो। अपने समय से कोई भी साहित्यकार निरपेक्ष नहीं रह सकता। किन्तु जो आलोचक अपने समय से निरपेक्षता की बात करता है, वह अपने भीतर कोई निहित स्वार्थ रखता है, इसे हमें नहीं भूलना चाहिए।

दूसरी बात है, साहित्य के वर्ग निरपेक्ष होने के दृष्टिकोण की। लेखक ने लिखा है 'समस्या चाहे कुछ हो, लेकिन रचना में नारेबाजी ही केवल न हो, स्थायित्व हो, व्यापकता हो। वह हर वर्ग के लोगों का हृदय छू सके।

पाठक बताएँ कि ऐसी रचना क्या हो सकती है जो एक साथ श्री घनश्यामदास जी बिड़ला और इन्दौर के एक कारखाने में काम करने वाले मजदूरों का हृदय एक साथ छू सके! क्या हड़ताल की समस्या पर कोई प्रगतिशील कहानी! कदापि नहीं। निश्चय ही ऐसी कलाकृतियाँ हॉलीवुड के पिक्चर्स के रूप में हमारे व आपके सामने नित्य ही प्रदर्शित होती हैं, जो मजदूर और पूंजीपति दोनों वर्ग के लोगों का एक साथ हृदय छू सकती हैं।

इसी प्रकार 'प्रगतिवाद और राजनैतिक अनुशासन' शीर्षक निबंध में लेखक ने लिखा है कि रूस के लेखक कम्युनिस्ट पार्टी के अनुशासन में रहे हैं, हिन्दुस्तान में यह नहीं होना चाहिए। खेद है कि यह अध्याय इतने गप्पमूलक ढंग से लिखा गया है जिसे देख कर तरस आये बिना नहीं रहता। अपेक्षित तो यह था कि इस अध्याय में लेखक साहित्य और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन करता और बतलाता कि ये किस प्रकार एक-दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं तथा किस सीमा तक एक के क्षेत्र में दूसरे का प्रवेश हो सकता है। परन्तु क्या यह सब लेखक ने किया है?

इसी प्रकार लेखक ने व्यक्ति के मूल्य की आवाज उठाई है। समाजवाद (जिसका कि प्रगतिवाद हामी है) में व्यक्ति की हत्या हो जाती है, यह कह कर समाजवाद के दुश्मनों ने प्रचार का रास्ता बना लिया है। ठीक इसी नारे को लागू करने के लिये लेखक ने एक पूरा चेप्टर लिखा है। इस अध्याय में लेखक के चरम व्यक्तिवाद की अभिव्यंजना हुई है। लेखक के चिन्तन की प्रणाली वही घिसी-घिसाई आदर्शवादी ढंग की है, विश्व की परिस्थितियों को बदलने का ढंग भी विनोबापंथी सर्वोदयी है।

"सिर्फ़ बना लेना, देवमूर्त्ति की प्रतिष्ठा कर देना काफ़ी नहीं होता, उससे भी अधिक होता है मन में पूजा-भाव जाग्रत करना। केवल मन्दिर के प्रांगण में खड़े होने से कोई पुजारी नहीं हो जाता। मार्क्सवाद मानव की चिरन्तन साधना के इस पहलू का महत्त्व नहीं पहचान पाता और यही उसकी एकांगिता है।"

इस अध्याय में हमारे सामने लेखक का चेहरा पूर्णतया बेनक़ाब होकर आ जाता है। दर्शन में ठग-विद्या मिलाने की जो करामात (मार्क्सवाद में फ्रायडपंथ) हिन्दी आलोचना में इलाचंद जोशी, राजनीति में जयप्रकाश (समाजवाद में सर्वोदय) कर रहे हैं वही करने का बीड़ा भारती जी ने उठाया है। और वह है समाजवाद में अध्यात्म का समावेश। देखिये :

"मैं यह नहीं कहता कि मनुष्य की आत्मा में जागने वाला यह स्वप्न परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता, अवश्य होता है, परन्तु फिर भी मानव के अंतर्जगत में कोई ऐसी शक्ति है जो बार-बार उसे परिस्थितियों पर विजय दिलाती रहती है, कोई ऐसा कृष्ण है जो अर्जुन के रथ को महाभारत में संचालित करता रहता है। अपने मन की उस परम शक्ति को पहिचान कर ही आदमी हर युग में नया निर्माण कर सकता है। उसके बिना मार्क्स का बाह्य निर्माण अधूरा है।"

ऐसा लगता है कि हीगेल का प्रेत भारती बनकर बोल रहा है। और यदि भारती जी की इस श्रेष्ठ कलाकृति को शुद्ध आन्तरिक निर्माण मान लिया जाय तो सहज ही प्रश्न उठता है कि वह कृष्ण कौन है जो भारती के रथ को साहित्य के महाभारत में संचालित कर रहा है? शिवदान या अज्ञेय?

शुद्ध अध्यात्म का यह नमूना देखिये कि 'हर युग का महानतम साहित्य' किस प्रकार पलक मारते ही अध्यात्मवादी हो गया :

"और यहीं हमें समस्या का भारतीय समाधान मिल जाता है। वह शक्ति जो हमारे मनोविज्ञान को संतुलित कर उच्चतर बाह्य निर्माण की ओर प्रेरित करती है, यह है अध्यात्म। हर युग, हर देश का महानतम साहित्य अध्यात्मवादी रहा है।"

और शायद इसीलिये लेखक की दृष्टि में गोर्की, मायकोवास्की, प्रेमचन्द, सभी अध्यात्मवादी थे। उसे केवल इसी से संतोष नहीं हुआ और लेखक ने प्रगतिवादियों को धर्मानुयायी बनने की सलाह दी; क्योंकि उसके बिना सच्ची प्रगति असम्भव है। एक पूरा चेप्टर इस विषय पर भी लिखा गया है। कुछ वाक्य देखिये :

'धर्म की बहिष्कृति से निश्चित रूप से यह ध्वनि निकलती है कि धर्म के साथ की सभी ऊँची मानव-जीवन की उच्चता में विश्वास, आंतरिक सौंदर्य, नैतिक मर्यादा, पवित्रता इन सभी चीज़ों का बहिष्कार कर दिया होगा।' (पृष्ठ १४६)

'लड़ने के लिए, दुनिया को बदलने के लिए, नये युग की स्थापना करने के लिए धर्म ने हमेशा धार्मिक प्रतीकों से आदमी को बल दिया है। अपने वास्तविक अर्थ में धर्म सदैव प्रगतिशील रहा है।' (पृष्ठ १५०)

इस चेप्टर में लेखक ने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि धर्म और मज़हब अलग-अलग चीज़ें हैं। धर्म सदा प्रगतिशील रहा है और मज़हब प्रतिक्रियावादी। रूस में मज़हब का विरोध हुआ, धर्म का नहीं। वस्तुतः मज़हब और धर्म कोई परस्पर विरोधी चीज़ें नहीं हैं। जिस प्रकार आप कहते हैं कि धर्म तो सदा ही प्रगतिशील रहा है—उसी प्रकार एक शायर ने कहा है—'मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर करना····!' किन्तु मज़हब के ही अनुयायियों की खूंरेज़ी से सारे मध्ययुग का इतिहास चीख रहा है। मज़हब उर्दू शब्द है और धर्म हिन्दी और साथ ही वह लेखक के नाम से जुड़ा है। क्या इसीलिए लेखक ने अच्छाइयों का समावेश धर्म में कर दिया और बुराइयों का मज़हब में ? जो अर्थ एक हिन्दी भाषा के लिए 'धर्म' निहित है, वही अर्थ उर्दू भाषा के लिए 'मज़हब' में। फिर धर्म सदैव प्रगतिशील रहा और मज़हब प्रतिक्रियावादी; यह कहना क्या अर्थ रखता है ? धर्म और मज़हब के विभाजन का क्या आधार है ? वस्तुतः यह विभाजन पूर्णतः अवैज्ञानिक है।

यह तो हुआ लेखक द्वारा लगाये आरोपों तथा स्थापित मान्यताओं का विवेचन। अब यह विचार करना है कि पुस्तक जिस ध्येय को लेकर लिखी गई है, जो नाम उसे दिया गया है, उसमें वह कहाँ तक सफल होती है ?

आज प्रगतिवादी धारा साहित्य की एक जीवन्त-धारा के रूप में वर्तमान है। उसकी अपनी साहित्यिक मान्यताएँ हैं और उनके अनुकूल उसने साहित्य की नई द्विधाओं को जन्म दिया है। काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध और आलोचना के अतिरिक्त स्केच और रिपोर्ताज लिखने की कला का प्रवर्तन प्रगतिवादी धारा के अन्तर्गत ही हुआ। एक पाठक के नाते हम भारती से अपेक्षा करते थे कि वे प्रगतिशील साहित्य की धारा के हिन्दी में हुए उद्गम तथा विकास को बतलाते। उसमें मुखरित हुई प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते। संक्रांतिकाल की अन्य साहित्यिक धाराओं के बीच उसे एक

कर मूल्यांकन करते और फिर अपने निष्कर्ष निकालते। प्रगतिवाद के सैद्धांतिक पक्ष की व्याख्या, प्रगति के स्वरूप का विवेचन एवं प्रगतिवादी आलोचना तथा साहित्य के साथ सम्बद्ध जो मौलिक समस्याएँ हैं उनका विश्लेषण करते तथा जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में नए ढंग से विचार उपस्थित करते।

किन्तु क्या यह सब लेखक ने किया है ?

हम अपेक्षा करते थे कि यदि प्रगतिवाद की सैद्धांतिक समीक्षा भारती नहीं कर सकते थे तो कम से कम उसकी व्याख्यात्मक आलोचना से तो अपने पाठक को वंचित न करते ? प्रगतिशील कवियों की रचनाओं का परिचय, विश्लेषण तथा विवेचन होना चाहिए था। इसी प्रकार उपन्यास लेखकों, कहानीकारों आदि की रचनाओं का भी विवेचन करके उनकी श्रेष्ठता या निकृष्टता का निर्णय करना चाहिए था।

सारी पुस्तक को पूरी पढ़ जाने पर मालूम होगा कि श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन' तथा श्री नरेन्द्र शर्मा पर लेखक ने केवल एक-एक लाइन लिखी है—यशपाल, राहुल, पहाड़ी आदि का सिर्फ़ एक-एक बार नाम लिया गया है—निराला, पंत, केदार, शील, शंकर, शैलेन्द्र, दिनकर, शमशेर आदि के तो नाम भी पुस्तक में नहीं हैं।

फिर भी यह पुस्तक प्रगतिवाद पर एक पुस्तकाकार विवेचन है।

जिन शीर्षकों के अन्तर्गत लेखक ने पुस्तक लिखी है, उन्हीं के अन्तर्गत यदि लेखक चाहता तो भारतीय प्रगतिशील साहित्य का विवेचन कर सकता था।

किन्तु क्या यह सब लेखक ने किया है ?

इस सब का उत्तर केवल यह है कि मोह-ग्रस्त मन से कोई बड़े काम नहीं हो सकते।

दो शब्द यहां लेखक की आलोचना शैली के बारे में कहना भी असंगत न होगा, क्योंकि शैली का भी अपना महत्व होता है और उसी के आधार पर लेखक की अभिरुचि को पहिचाना जाता है। आलोचक का कार्य निस्संदेह बड़ा ही गम्भीर होता है, परन्तु खेद है कि लेखक इस अपेक्षित गम्भीरता को पास ही नहीं फटकने देता। आलोचना होनी चाहिए, किन्तु स्वस्थ एवं संयत शैली में। वैयक्तिक राग-द्वेष तथा गाली-गलौज करने से साहित्य का विकास नहीं होता। लेकिन किया क्या जाय, भारती की इस

श्रेष्ठकलाकृति की तो प्राण-चेतना ही यह गाली-गलौज है । कुछ नमूने देखिए :

(१) 'आखिर प्रेमचन्द ने भी तो अवध का चित्रण किया था ? आखिर शरद ने भी तो बंगाल का चित्रण किया था, लेकिन हरी दूब हटाकर कीचड़ में मुँह डुबोने और नाबदान में पैर डुबोने का शौक नागार्जुन की तरह किसी को नहीं था।'

(२) 'शस्य-श्यामला मिथिला में नागार्जुन को चित्रण करने को यही पहलू मिले। लहलहाते हुए सुनहले गेहूँ के खेतों में वाराह समूह अपना ही भोजन सूँघता फिरता है। इसमें अचरज की क्या बात !'

(३) 'मुझे कोई ऐतराज़ नहीं होता यदि नागार्जुन तथा उन्हीं की परम्परा के महान् प्रगतिवादी लेखक इस तरह का घासलेटी प्रगतिवादी साहित्य लिखते, उसे कचौड़ी गली में छपवाते और 'किस्सा साढ़े तीन यार' के साथ फुटपाथों पर विशुद्ध जन-साहित्य के साथ बेचते !'

(४) 'मुझे तो बेहद आश्चर्य होता है कि प्रगतिवादी बिना किसी तमीज़ के भारतीय धर्म परम्परा का विरोध करते हैं, उन्होंने भारतीय धर्म का तो अध्ययन ही नहीं किया, मुझे लगता है उन्होंने रूसी साहित्य भी पढ़ने की कोशिश नहीं की या पढ़ा भी है तो शायद समझे नहीं।'

(५) 'क्योंकि उनकी (प्रसादजी की) बदक़िस्मती से और सारे राष्ट्र की बदक़िस्मती से ऐसे प्रगतिवादी आलोचकों ने इस पुण्यभूमि पर अवतार लिया, जिन्हें भगवान ने भाषा का बरदान तो दिया मगर समझदारी से उनका परिचय कराना भूल गए।'

(६) 'सुमन ने लिखा था 'दस हफ्ते दस साल बन गए, मास्को अब भी दूर है।' लेकिन हिन्दोस्तान की जनता का दुःख-दर्द भी उनके माइक्रोफोन से बहुत दूर था ।'

क्या एक आलोचक को जिस शालीन शैली में परिस्थिति का विश्लेषण करना चाहिए, वह है यहाँ ?

नागार्जुन के उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' की चर्चा लेखक ने विशेष रूप से की है। इस रचना को लेखक ने घोर अश्लील, गन्दी और न जाने क्या-क्या कहा है। लेखक के तर्कों-कुतर्कों के उत्तर तथा सफ़ाई में बहुत कुछ कहा जा सकता है। जिन्होंने 'रतिनाथ की चाची' को पढ़ा होगा वे भारती

की तर्कशीलता पर अवश्य ही हँसे होंगे। पर मान लीजिये कि यह उपन्यास अश्लील ही है। किन्तु प्रश्न उठता है कि इतने 'हरी दूब और गुलाब के फूल से' उपन्यासों को हटाकर कीचड़ (नागार्जुन की कृति) में मुंह देने और नाबदान में पैर डुबोने का शौक़ कम-से-कम भारती जैसे श्रेष्ठ ! लेखक को तो नहीं होना चहिए था। आलोचना करने के लिये और दूसरे अश्लील उपन्यास काफ़ी तादाद में मौजूद थे। लहलहाते हुए प्रगतिशील साहित्य के क्षेत्र में क्या आप अपने आलोचन के लिये इसी उपन्यास को सूंघते फिरे ? क्या इस उपन्यास में आपके कथनानुसार जो है, वही आप का भोजन है ? अब बताइये कि आप स्वयं क्या हैं ? क्या आप गेहूँ के लहलहाते हुए खेत में वाराह की तरह अश्लीलता और गन्दगी नहीं ढूंढ़ते फिर रहे हैं ?

आप तो धर्म की महान् नैतिकता के पक्षपाती हैं ? फिर साहित्यालोचन में इस प्रकार की वैयक्तिक राग-द्वेष की भावनाओं को अभिव्यक्त करने से आपका क्या तात्पर्य है ? आप सीधे-सादे नागार्जुन पर क्यों पिल पड़े ? नागार्जुन को यदि कीर्ति प्राप्त हुई हैं तो आपको उससे द्वेष की क्या आवश्यकता है ? दूसरे कीर्न्तिध्वंस पर आप अपना यशस्तम्भ क्यों खड़ा करना चाहते हैं ? नागार्जुन के काव्य में जीवट है, एक ताक़त है और इसीलिये आज का हिन्दी संसार उसे नई हिन्दी कविता का वैतालिक मानता है। आधुनिक हिन्दी कविता के इस भारतेन्दु के प्रति आपने जिन शब्दों का प्रयोग किया है, वह आपकी असंस्कृत रुचि का परिचायक है।

लेखक ने इस पुस्तक में हज़ारों जगह कलात्मकता का नारा दिया है। लेखक की कला को तो हम उसकी दूसरी कृतियों में ही देखेंगे, यहाँ केवल यह देख लें कि भाषा और शैली के प्रति लेखक का क्या रुख है। आठ-आठ और दस-दस पंक्तियों के वाक्य जिनमें जगह-जगह शिथिलता आ गई है तथा भद्दे जोड़ लगे हैं, आपको प्रत्येक स्थान पर मिल जायँगे। कई जगह तो एक पैराग्राफ़ में सिर्फ़ एक ही वाक्य है, और वह भी ऊपर के पैराग्राफ़ के विचारों को ही लेकर आगे बढ़ा है। उदाहरण के लिए पृष्ठ ७७ का तीसरा पैराग्राफ़ अथवा पृष्ठ ७१ का दूसरा पैराग्राफ लिया जा सकता है, जो अपने निर्माण के आधार-स्वरूप किसी नए विचार की शुरुआत नहीं रखता। इस प्रकार से अनेकों पैराग्राफ़ मिल सकते हैं।

इसी प्रकार व्याकरण के प्रति भी लेखक की लापरवाही प्रतीत होती है। यह भी हो सकता है कि परम प्रयोगी श्री धर्मवीर भारती हिन्दी के असमर्थ-

दार पाठकों को अपने प्रयोगों से चमत्कृत करना चाहते हों। आत्मा स्त्री-लिंग है या पुलिंग ? देखिये :

'दुनिया की महान संस्कृतियाँ वह प्रयोग हैं—जो मानव-जाति के सामूहिक आत्मा ने सत्य की खोज में किए थे।(पृष्ठ २१७)।

❀ ❀ ❀

'मैं यह नहीं कहता कि मनुष्य की आत्मा में जागने वाला यह स्वप्न परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता.......।' (पृष्ठ १४३)।

एक बानगी और लीजिये :

'बचपन, भगवतीचरण और अंचल में इस अपार्थिकता के प्रति थोड़ा-बहुत विद्रोह था, उसे लेकर प्रगतिवाद की नई पीढ़ी यौन-प्रवृत्ति की उच्छृङ्खला की अभिव्यक्ति में जुट गई।'

हिन्दी के असमझदार लेखकों के व्याकरण के अनुसार 'उच्छृङ्खला' का प्रयोग ग़लत है। 'उच्छृङ्खला' शब्द अपना कोई नया प्रयोगवादी अर्थ भले ही रखता हो, परन्तु हिन्दी में वह उच्छृङ्खला के पर्याय के रूप में तो प्रयुक्त नहीं होता। इसी प्रकार से देखिये भारती जी ने संज्ञा और विशेषण के बीच में किस बारीकी से रेखा खींची है :

'इस प्रकार हम देखते हैं गोर्की ने भी रूढ़िवादी-ईश्वर और वास्तविक-ईश्वर में स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दी है।' (पृष्ठ १६१)।

इस वाक्य के द्वारा श्री भारती जी ने भी रूढ़िवादी-व्याकरण और वास्तविक-व्याकरण के बीच एक रेखा खींच दी है। रूढ़िवादी व्याकरण के अनुसार 'विभाजन' संज्ञा है—यहाँ उसका रेखा के विशेषण के रूप में प्रयोग किया गया है। हिन्दी में इस स्थल के उपयुक्त विशेषण विभाजक मौजूद है—पर भाषा की व्यापकता बढ़ाने के लिए जब लेखक आकुल है तो फिर ऐसे प्रयोग होने ही चाहिएँ, तभी तो 'गीत' भारती जी के व्याकरण में स्त्री-लिंग है।

'सन् ४३ में सरकार की ओर से रूसी कविताओं का एक संग्रह छपा है जिसमें मायकॉवस्की और येसेलिन दोनों का समान स्थान है, दोनों की २१-२१ गीत हैं।' (पृष्ठ १०४)।

हमारा लेखक से निवेदन है कि वे विश्वास रखें—श्री कामताप्रसाद गुरु रूस में नहीं वरन् हिन्दुस्तान में ही पैदा हुए और रहे थे। वे भी श्री

गोलवलकर और डी० पी० मिश्रा के प्रांत ही में। अतः कम से कम आप यदि एक बार भी उनके व्याकरण का पारायण कर जायेंगे तो वह आपको प्रगतिवादियों को इस प्रकार जन्म देने में लाभदायक ही सिद्ध होगा।

अन्त में इस पुस्तक की राजनैतिक भूमिका को साफ़ कर देना आवश्यक है। आज भारती प्रगतिशीलता का आवरण ओढ़ कर लोगों को धोखा दे रहे हैं और कुछ विसर्जनवादी लेखक इस राजनीति के हथियार बन चुके हैं। विसर्जनवादी लेखकों के इस दल ने प्रगतिशील साहित्य के इस ध्येय में से राष्ट्रीय स्वाधीनता जैसी महत्त्वपूर्ण चीज़ को निकाल दिया है। किन्तु प्रगतिशील लेखक संयुक्त मोर्चे के नाम पर अपने आलोचना के अधिकार का विसर्जन नहीं कर सकते। इतिहास की जंगी ताकतें उठ रही हैं। प्रगतिशील साहित्य तूफ़ान के वेग से अपने चरण बढ़ा रहा है।

हास्य : एक विश्लेषण

भारतीय साहित्य पर पाश्चात्य समीक्षकों का यह प्रमुख आक्षेप है कि वह आत्मा की खोज में अत्यधिक आदर्शवादी रहा है। इस आत्मा की खोज में उसने काव्य की आत्मा भी खोज निकाली और उसे 'रस' की संज्ञा से अभिहित किया। रसों में भी उसने शृंगार को जो सर्वाधिक व्यक्तिपरक था, रसराज घोषित किया। एक सीमा तक यह आक्षेप अपनी सार्थकता एवं उपादेयता अवश्य रखता है। उसे हम इस रूप में देख सकते हैं कि जब भी भारतीय कविता की धारा 'रसराज' की सीमा में बँध 'रति' की परिधि में केन्द्रित हुई उसका जीवन से सम्बन्ध टूट गया। वह बँधी हुई नालियों में बहने लगी। हिन्दी का 'रीतियुग' इसका मुखर साक्षी है।

'हास' शृंगार का संचारी भाव रह कर 'रति' का सहायक भाव अवश्य रहा है। किन्तु रति के विपरीत हास की भावना अधिकाधिक वस्तुपरक एवं समष्टिनिष्ट है। किन्तु जीवन के आदर्शोन्मुख चित्र उपस्थित करने की धुन में भारतीय साहित्य में 'हास' की भावना प्रायः उपेक्षित ही रही। 'हास' के अभाव का दूसरा कारण यह भी है कि हास्य की भावना और गम्भीरता का सहज ही विरोध है और भारतवर्ष ठहरा गम्भीर दार्शनिकों का देश। तीसरा कारण सांस्कृतिक है। हमारी संस्कृति का मूलाधार ही दया और सहानुभूति की भावना है, जो आलम्बन के हास्योद्रेक में सक्षम होने पर भी उससे करुणा की ही सृष्टि करती रही। भारतीय साहित्य में हास्य के अभाव के ये ही कुछ कारण हैं। अस्तु, लक्षण ग्रंथों में हास्य के अत्यन्त अल्प विवेचन का कारण भी लक्ष्य ग्रंथों में हास्य-साहित्य का अभाव ही है।

हास्य की विवेचना के पूर्व उसके सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टिकोण को जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। जीवन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और क्रमशः विकसित होता चला जा रहा है। मनुष्य का भाव-जगत वस्तुजगत का ही प्रतिरूप है। दूसरे शब्दों में मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व पर ही निर्भर है। अस्तु, ज्यों-ज्यों जीवन में विविधता का विस्तार हुआ, उसके अनुरूप साहित्य के रसों की संख्या में भी विस्तार होता गया। भरत मुनि से लेकर गुलाबराय जी के 'नवरस' तक की विशाल और व्यापक परम्परा पर

दृष्टिपात करने पर यह विकास सहज ही समझ में आ जावेगा। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में रसों की संख्या आठ ही बताई है।

'शृङ्गार हास्य करुण रौद्र भयानकः।
वीभत्सा अद्भुत संज्ञो चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥'

दशरूपककार ने सर्व-प्रथम शान्तरस को स्थान देकर इस विकास को जन्म दिया। बाद में हमें साहित्य-दर्पण में वात्सल्य रस पर पर्याप्त विवेचन मिल जाता है। मध्ययुग में जीवगोस्वामी ने रस का गौड़ीय दृष्टि से विश्लेषण कर भक्ति एवं मधुर रस की सत्ता स्थापित की। हास्य-रस के उद्रेक के विषय में साहित्यदर्पणकार का निम्न मत है :

'विकृताकार वाग्वेष चेष्टादेः कुहकाद्भवेत्।
हास्योहास स्थायी भावः श्वेतः प्रमथ देवतः॥'

इसके अतिरिक्त हास्य के भेदों तथा उपभेदों का भी उल्लेख किया गया है। उक्त लक्षण के अनुसार वाणी, चेष्टा तथा आकार आदि की विकृतता से हास्यरस की सृष्टि होती है। इसका स्थायी भाव हास, वर्ण शुक्ल, तथा देवता प्रमथ है। दशरूपककार द्वारा दिया हुआ लक्षण भी इसी प्रकार है।

'विकृताकृति वाग्विशेषैः
आत्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात् परिपोषोस्य,
हास्यींस्य प्रकृतिः स्मृताः॥'

विचार करने पर साहित्य-दर्पणकार के लक्षण में और उक्त लक्षण में कोई तात्विक अन्तर दिखाई नहीं पड़ता है। हाँ, इसमें यह अवश्य स्पष्ट कर दिया गया है कि वेषभूषा अपनी भी हो सकती है तथा अन्य की भी। काव्य प्रकाश की परिभाषा में वाणीगत विकार पर अधिक बल दिया गया है।

'रतिर्मनोनुकूले मनसः प्रवणायितम।
वागादिवै कृताच्चेतो विकसो हास उच्यते॥'

अस्तु भारतीय दृष्टिकोण से विचार करने पर हमें हास्य रस के उद्रेक के तीन मूल कारणों का ज्ञान होता है :

१—विकृत शब्दावली।

२—वेषभूषा।

३—कार्यकलाप।

यद्यपि उपरोक्त तीनों कारण मनोविज्ञान के पर्याप्त अनुकूल हैं, तथापि विवेचना का अत्यन्ताभाव अवश्य ही कुछ खटकता है । दो-चार श्लोकों में अपर्याप्त लक्षण दे देने से उक्त विषय वैज्ञानिकता से बहुत दूर रह गया है। यद्यपि यह ठीक है कि साहित्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमें मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन हो, तथापि विषय के स्पष्टीकरण के लिए प्रतिपादन की शैली को अवश्य ही वह मार्ग अपनाना पड़ता है । स्वयं इलियट इसी धुन के कारण एक दूसरे अतिवाद पर पहुँच गये थे ।

पाश्चात्य देशों की स्थिति इससे भिन्न है । पाश्चात्य विद्वानों ने मनोविज्ञान का सहारा लेकर हास्य के मूल कारणों की पर्याप्त खोज की है । इस कारण हास्य के उद्रेक के विषय में पश्चिम में कई सिद्धान्तों ने जन्म लिया है । इन सिद्धान्तों में प्रमुख केवल दो ही तीन हैं ।

मनोविज्ञान के उदय के साथ ही हाब्स ने अपने 'अनायास उत्कर्ष' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसके कारण हास्य का कारण उस उल्लास को बताया गया है जो अपने उत्कर्ष को पूर्व की दुर्बलताओं से मिलाने पर होता है ।

"The passion of laughter is nothing else but sudden glory arising from sudden conception of some eminency in ourselves by comparing with the infirmity of other or with our own formerly."

अपने में अनायास किसी उत्कर्ष को देख कर उसे पूर्व की दुर्बलताओं की समता रख कर जो उत्कर्षव्यंजक उल्लास होता है, वही हास्य का कारण है । कुछ दिन पूर्व तक अवश्य साहित्यलोचक इसे आंशिक सत्य के रूप में स्वीकार करते रहे, किन्तु आज के साहित्य का सम्पर्क उस मनोविज्ञान से है, जो १७वीं सदी के मनोविज्ञान से कहीं अधिक विकसित है । आज का मनोवैज्ञानिक स्पष्ट ही तर्क कर सकता है । 'उत्कर्षव्यंजक उल्लास से गर्व की सृष्टि हो सकती है, हास्य की नहीं । और गर्व तथा हास्य परस्पर विरोधी भाव हैं । किसी गर्वीले जमींदार को स्वयं की कमजोरियों पर हँसते हुए शायद ही किसी ने देखा हो ।'

दूसरा सिद्धान्त स्पेन्सर का असंगति के निरीक्षण का है जिसके अनुसार हमारी चेतना का बड़ी वस्तु से छोटी वस्तु की ओर जाना ही हास्य

का मूल कारण है। दूसरे शब्दों में हास्य का कारण हमारी चेतना की उत्कर्ष से अपकर्ष की ओर उन्मुख होने वाली गति है।

"Laughter naturally results only when consciousness is unaware transferred from great things to small only when there is what we call a descending incongruity. When, however, the final is on larger scale the initial event, the balance of income and expenditure on the wrong side and there is a shortage of energy to meet the occasion. in this case ascending incongruity, there is no laughter and the emotion we call wonder results."

"हास्य की स्वाभाविक उत्पत्ति उस समय होती है, जब बोधज्ञान बड़ी चीज से छोटी चीज की ओर आकर्षित होता है; जिसे हम अधोमुख असंगति कहते हैं। इसके विपरीत उत्तरोत्तर असंगति होती है, जिससे हास्य के भाव की उत्पत्ति न होकर आश्चर्य भाव की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः हाब्स द्वारा जो कारण दिया गया और स्पेंसर द्वारा दिये गये कारण में ऊपरी दृष्टि से देखने पर कोई भेद दिखाई नहीं देता। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से गहराई में जाकर विश्लेषण किया जाय तो अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। हाब्स ने जहाँ मुख्य कारण उस उल्लास को माना है जो अपनी शहजोरियों के साथ पहिले ही कमजोरियों की तुलना पर होता है। जबकि स्पेंसर उल्लास के विषय में मौन है। उनकी दृष्टि से हास्य का कारण चेतना की परिवर्तित गति है। यद्यपि यह सही है कि असंगति सदैव ही हमारे हास्य का कारण नहीं होती, क्योंकि जीवन में कई असंगतियाँ ऐसी होती हैं जो हास्य को जन्म न देकर दूसरे अन्य भावों की सृष्टि करती हैं। सज्जन मनुष्य पर भी इसी समाज में अत्याचार होता है और शिक्षित से शिक्षित व्यक्ति भी इसी समाज में बेकार फिरते नजर आते है। किन्तु इन असंगतियों के बावजूद भी ये हमारे क्रोध तथा शोक के भावों को ही उद्दीप्त करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि असंगति सर्वत्र हास्य का कारण होती दिखाई नहीं पड़ती। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हास्य के कारण का सम्बन्ध सामाजिक भावना से है। किसी एम० ए० को बेकार फिरते देख सम्भव है हमारे हृदय में उस असंगति से करुणा की ही सृष्टि हो, किन्तु किसी पूंजीपति की मटके जैसी तोंद देख कर हमें हँसी आए बिना न रहेगी! स्पेंसर के इस सिद्धान्त में आंशिक

सत्य का अंश अवश्य दिखाई देता है। स्पेंसर के बाद फ्रांसिसी दार्शनिक बर्गसन ने हास्य के कुछ कारणों का उल्लेख इस प्रकार किया है :

"Insociability on the part of the object laughter, insensibility on the part of laughter and the certain automatism in the situation in the words, or in character that appears ludicrous."

हास्य के आलम्बन को समाज-प्रिय न होना चाहिए और घटना, शब्दावली तथा पात्र में यांत्रिक क्रिया आवश्यक है।

बर्गसन की इस परिभाषा में ऊपर के सभी सिद्धान्तों का सार तथा मौलिकता के दर्शन होते हैं। इसमें हास्य के तीन कारणों का उल्लेख किया गया है :

१—आलम्बन का समाजप्रिय न होना।
२—आलम्बन का अचेतन होना।
३—यांत्रिक क्रिया।

इसके अतिरिक्त हास्य के सम्बन्ध में विपर्यय के सिद्धान्त का ही अपना महत्त्व है, जिसके अनुसार परस्पर-विरोधी तथा विपरीत परिस्थितियाँ हास्य का कारण होती हैं। जब चोर के घर में सेंध लगती है तो लोग हँसे बिना नहीं रहते। विपर्यय के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी बर्गसन ने ही किया। बर्गसन द्वारा दिये गये कारणों पर विचार करने पर प्रतीत होगा कि बर्गसन बहुत कुछ सत्य के निकट तक पहुँच सके हैं। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि हास्य की भावना समष्टिनिष्ट है। अस्तु, हास्य के आलम्बन के लिए यह एक विशेष शर्त है कि वह समाजप्रिय न हो। यदि आलम्बन को समाज का प्रेम प्राप्त हुआ तो अनेकों असंगतियों के बावजूद भी वह हमारे हास्य की सृष्टि करने में असमर्थ होगा। उदाहरण के लिए जायसी काने तथा बहरे थे। एक बार एक राजा उन्हें देख कर ठहाका मार कर हँसा, जायसी ने तुरन्त ही अपने ज्ञान तथा कुशलता से उत्तर दिया—'मोहिं हँसहि कि कोहरहि। यह सुनकर राजा अत्यन्त लज्जित हुआ तथा अपने अपराध की क्षमा माँगने लगा। कहने का तात्पर्य सिर्फ़ इतना ही है कि समाजप्रिय व्यक्ति विविध असंगतियों के बावजूद भी हास्य का आलम्बन नहीं बन सकता; बर्गसन ने इस सत्य को पहचाना था। बर्गसन ने दूसरा कारण दिया है आलम्बन का अचेतन होना। हास्य की सृष्टि उस समय भी होती है जब कोई व्यक्ति उसी सम्बन्ध

रखने वाली घटना के प्रति अचेतन और अनभिज्ञ रहता है । उदाहरण के लिए कॉलेज के विद्यार्थी जब अगली बेंच वाले लड़के की पीठ पर 'मैं गधा हूँ' लिख कर काग़ज़ चिपका देते हैं और यह विद्यार्थी इसे बिना जाने स्वच्छन्द रूप से सर्वत्र घूमा करता है तो हँसी के फव्वारे छुटने लगते हैं । बर्गसन ने तीसरा कारण यांत्रिक क्रिया को बताया है । यह यांत्रिक क्रिया वाणीगत भी हो सकती है और शारीरिक भी । जब व्यक्ति अपने 'तकिया कलाम' शब्द का प्रयोग करने लगता है तो यही यांत्रिक क्रिया हमारे हास्य का कारण होती है । इसी प्रकार दर्शन के प्रोफ़ेसर सा० जब विवाह-शादी के अवसर पर भी सांख्य और अद्वैत पर भाषण देने लगते हैं तो बरबस हास्य का उद्रेक हो ही जाता है । इस प्रकार से उत्पन्न होने वाले हास्य का मूल कारण प्रो० सा० के जीवन का यंत्रवत् होना ही है । ये व्यक्ति जीवन के एक ही क्षेत्र में घिसते-घिसते मशीन की तरह जड़ हो गये हैं ।

उपर्युक्त सिद्धान्तों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से कोई भी सिद्धान्त पूर्ण नहीं है । वरन् जिस सिद्धान्त ने भी पूर्णता का दावा किया तो वह भी शीघ्र ही हास्य का आलम्बन बनने की क्षमता प्राप्त कर सकता है । क्योंकि बर्गसन के अनुसार हास्य एक ऐसी मानवीय वृत्ति है जिसकी सम्पूर्ण मानव-जीवन में गति है । अतः जीवन के विकास के साथ ही हास्य के आलम्बनों में भी विकास हुआ है । मानवता के विकास के साथ ही आज हमारे हास्य का दृष्टिकोण बदल गया है । आज किसी का अपकर्ष देख कर हममें हास्य की उद्भूति नहीं होती । परन्तु दो सदी पूर्व मानव उससे उत्कर्ष की भावना का अनुभव करके हँसे बिना नहीं रहता था । आज प्रत्येक प्रकार की असंगति हमारे हास्य का कारण नहीं हो सकती, आज वह हमारी करुणा का ही आलम्बन अधिक अंशों में होगी । अस्तु, क्रमशः मानव-जीवन के विकास के साथ मनुष्य की हास्य सम्बन्धी धारणाओं में भी परिवर्तन हुआ है । इसी कारण आज के मानव के हास्य के आलम्बन वह नहीं रहे जो दो सदी पहिले थे ।

इस प्रकार उक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त भी हास्य के कुछ गौण कारण हो सकते हैं । जैसे शीघ्रता, कायरता आदि । नौसिखिया साईकिल चलाने वाला जब साईकिल से गिर पड़ता है तब धूल झटकार इतनी जल्दी साईकिल पर बैठता है कि देखते ही बनता है । उसकी यह शीघ्रता ही हमारे हास्य का कारण होती है । इसी प्रकार कायरता का प्रदर्शन जब प्रकृत रूप

में अर्थात् मनुष्य स्वभाव के रूप में होता है तो वह भी हास्य का कारण होती है। किन्तु कायरता में स्वामी-द्रोह के तत्त्व सम्मिलित हो जाने पर वह हास्य का उद्रेक न कर हमारे हृदय में घृणा और क्रोध को ही जाग्रत करेगी।

शरीर वैज्ञानिकों के मतानुसार हास्य का मुख्य कारण शरीर की अतिरिक्त शक्ति है। उनके कथनानुसार हमारे शरीर की प्रेम-शक्ति सदैव विकसित होती रहती है। इस विकास में उसे कई अवरोधों का सामना करना पड़ता है। अतः उक्त अवरोधों के प्रतिकार के हेतु वह शरीर में कुछ शक्ति संघटित करती है। अवरोधों के दूर हो जाने पर वह शक्ति हँसी के रूप में प्रस्फुटित होती है। इस प्रकार हास्य प्रेम की शक्ति का ही परिवर्तित स्वरूप है, इसीलिए हास्य की भावना राग-प्रधान रही है।

हास्योद्रेक के मूल कारणों की विवेचना करने के पश्चात् हमें यह देखना है कि हास्य की अभिव्यक्ति के रूप क्या हैं। हास्य में अभिव्यक्ति का स्वरूप भी आलम्बन की परिस्थिति पर ही निर्भर है, क्योंकि जैसा कि पूर्व कहा जा चुका हास्य आलम्बन प्रधान रस है। अतः सभी सिद्धान्तों का समन्वय करने पर हास्योद्रेक के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं :

१—शारीरिक गुण।

२—मानसिक गुण।

३—घटना।

४—रहन-सहन।

५—शब्दावली।

इन रूपों को सम्मुख रखते हुए भारतीय आचार्य का "विकृताकृति वाग्विशेषै रात्मनोऽथ परस्यवा" कथन कितना उपयुक्त लगता है। शब्दावली, वेष-भूषा और क्रिया-कलाप के अन्तर्गत इन पाँचों स्वरूपों का समाहार हो सकता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से भारतीय दृष्टिकोण को हीन कहना असंगत है। किन्तु द्वैत और अद्वैत देखने वाली प्रखर भारतीय दृष्टि हास्य के लिए आवश्यक द्वैत की भावना को मूलतः खो चुकी थी। यह शुभ लक्षण है कि हमारा आज का साहित्य उतना आत्मगत नहीं है, उसमें हास्य का पर्याप्त विकास हो रहा है।

हास्य के भेद

आत्माभिव्यक्ति की समस्या मानव जीवन के प्रारम्भ से चली आ रही है, किन्तु इस समस्या से जुड़ी हुई एक समस्या और है और वह है परबोध

की। इसी परबोध की समस्या के कारण मनुष्य अभिव्यक्ति के एक साधन मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो पाता और फलतः उसे अभिव्यंजना के नए-नए प्रकारों से जूझना पड़ता है। आत्म के समाजीकरण के लिए यह आवश्यक भी है। अपनी बात को अधिकाधिक मार्मिकता तथा प्रभविष्णुता प्रदान करने के लिए लेखक प्रक्रिया के विभिन्न प्रकारों को खोज निकालता है। मूल भावना चाहे एक ही हो, किन्तु दृष्टिकोण का अन्तर ही कलागत भेद का मूल कारण है।

हास्य की भावना भी मूलरूप में एक ही है किन्तु दृष्टिकोण के भेद से ही हम उसे पहिचान सकते हैं। उदाहरण के लिए एक नवयुवती की मुस्कान तथा एक दार्शनिक की हँसी की तुलना करें तो प्रतीत होगा कि युवती की मुस्कान में जहाँ कुछ संकोच की मिश्रित छाप रहती है, वहाँ दार्शनिक की मुस्कान निर्वेद की मनोभावना से पूर्ण रहती है। किसी नराधिप की विजय दर्प मिश्रित हँसी तथा शिशु की स्वाभाविक हँसी में कितना विराट अन्तर है। इन दोनों प्रकार की हँसी की प्रेरक शक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

पश्चिम में भी हास्य के भेद किये गये हैं:—वे इन्हीं प्रेरक शक्तियों के आधार पर। किन्तु भारतीय साहित्य के हास्य के जो विभाग किये गये हैं वे अत्यन्त स्थूल तथा शारीरिक आधार पर किये गये हैं। प्रेरक मनोवृत्तियों के अनुरूप हास्य की भावना का विश्लेषण हमारे साहित्य में नहीं किया गया। अतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में विदूषक ही हास्य का आलम्बन रहा और वह भी किन्हीं आन्तरिक अन्तर्विरोधों के कारण नहीं वरन् गंजे सिर, विकृत वेषभूषा, भोजनभट्ट होने आदि के कारण। इसी कारण हास्य की भावना एक बौद्धिक धरातल पर खड़ी न हो सकी। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि भारतीय साहित्य में उच्च हास्य-रस बिलकुल नहीं है। पर हाँ, दिखाई देता है उनका केवल स्थूल रूप ही। पश्चिम में जो हास्य का विभाजन हुआ है वह गुण, उद्देश्य तथा उपकरण पर आधारित है, जबकि हमारे यहाँ के विभाजन का आधार शारीरिक प्रक्रियाएँ मात्र हैं। देखिये दशरूपककार हास्य के भेद इस प्रकार बतलाते हैं :

'विकृतकृति वाग्विशैषैर आत्ममनोऽथ परस्यवा।
हासः स्यात् परिपोषोऽस्य हास्य त्रिप्रकृति स्मृतः॥
स्मितं इह विकास नयनम्, किंचित् लक्ष्यं द्विजंतु हासितं स्यात्।
मधुर स्वरं विहसितं, स शिरः कम्पं इदं उपहासितं॥
अपहासितम् सा स्त्रासं, विक्षिप्तांग भवति अतिहासितं।
द्वे द्वे हासितं चैषाम् ज्येष्ठे मध्ये गने क्रमशः॥

इनमें हास्य के छः भेद किये गये है तथा उनके अनुरूप होने वाली शारीरिक क्रियाएँ भी बताई गई हैं जो इस प्रकार हैं :

१—स्मिति—नेत्रों का विकास होना।

२—हसित—कुछ दांतों का भी दिखाई देना।

३—विहसित—कुछ मधुर ध्वनि का होना।

४—उपहसित—इसमें कुछ सिर भी हिलने लगता है।

५—अपहसित—इसमें हँसते-हँसते आँसू भी आ जाते हैं।

६—अतिहसित—इसमें सारा शरीर हिलने लगता है।

इनका भी पात्र तथा स्थिति के अनुसार विभाजन किया गया है। पात्रों की दृष्टि स्मिति और हसित उत्तम श्रेणी के पात्रों के अनुभाव हैं। विहसित और उपहसित मध्यम तथा अपहसित और अतिहसित अधम श्रेणी के पात्रों के अनुभाव हैं। स्थिति की दृष्टि से दो भेद किये गए हैं। (१) आत्मस्थ, अर्थात् अपनी स्वयम् की विकृतियों, असंगतियों से उद्भूत···अर्थात् इसमें आश्रय और आलम्बन एक ही रहते हैं। आश्रय, स्वयम् की विकृतियाँ ही इसमें विभाव बन जाती हैं। स्मिति, विहसित और अपहसित इस भेद के अन्तर्गत आते हैं। (२) परस्थ, अर्थात् इसके विभाव अन्य व्यक्ति होते हैं। इसके अन्तर्गत हसित, उपहसित तथा अतिहसित आते हैं। किन्तु आत्मस्थ परस्थ की इस व्याख्या को पण्डितराज जगन्नाथ स्वीकार करते दिखाई नहीं देते। उनके मत से आत्मस्थ परस्थ ये दो भेद तो हैं, किन्तु उनका आशय दशरूपककार से भिन्न है। उनका कहना है कि आत्मस्थ में जो हास्य रहता है वह विभाव के देखने मात्र से उत्पन्न होता है। दोनों में तात्विक अन्तर केवल यही है कि आत्मस्थ में आश्रय के हृदय का भी योग रहता है, जबकि पूर्णतः चेष्टाकृत है।

,आत्मस्थः परसंस्थश्चैत्यस्यभेद द्वयं मतं।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभाग्नियाम् मात्रः॥
हसतमपरं दृष्ट्वा विभाश्चोप जायते।
उत्तमानाम् मध्यमानाम् नीचानामप्य सौमवेद्।
आस्य: काचितस्तस्य षट्भेदाः सन्ति चापराः॥'

दशरूपककार द्वारा विभाजित छः भेद तथा उनका पात्रानुरूप विभाजन पंडितराज ने पूर्णतया अपरिवर्तित रूप में स्वीकार कर लिया।

हमारे साहित्य में रस का विवेचन अभिनय की दृष्टि से किया गया है। हास्य के विभाजन का जो आधार हम शारीरिक पाते हैं उसका मूल कारण नाट्य-शास्त्र के नियम ही हैं, जिनमें अभिनय को सदैव ही प्रमुखता दी जाती है। संक्षेप में हास्य, रस के भेदों का यह भारतीय विवेचन है जिसका आधार शारीरिक है। आगे गुण, उद्देश्य तथा उपकरण के आधार पर विभाजित पाश्चात्य सिद्धान्तों पर एक संक्षिप्त दृष्टि डाल ली जावे।

पश्चिम के विवेचन का आधार अभिनय नहीं है और न हास्य का विवेचन ही नाट्यशास्त्र के नियमों पर किया गया है। विशिष्ट प्रेरक शक्तियों के कारण हास्य के दो रूपों में जैसा कि पहले कहा गया एक विराट अन्तर उत्पन्न हो जाता है। और इसी आधार पर यह विभाजन किया गया है। उदाहरण के लिये जिस हास्य का सम्बन्ध चरित्र, कार्य व घटना से होता है वह अपनी विशेषताओं के कारण उपहास अथवा वाग्वैदग्ध्य से साधारणतया पृथक् दिखाई देता है। इस दृष्टि से हास्य के चार भेद किये गए हैं।

१—हास्य

२—उपहास

३—भांड

४—वाग्वैदग्ध्य

हास्य—हास्य में आलम्बन के प्रति सहानुभूति का एक सूक्ष्म तार रहता है। इसीलिये यह व्यंग के प्रकार का न होकर उदारता का प्रदर्शन करता है। हँसने वाले के मन में प्रहसनीय के प्रति सहानुभूति की जो धारा बहती है वह मन से उसके सुधार की भावना रखती है, किन्तु सुधार की इस भावना का रूप सदैव ही मनोमय तथा गौण रहता है जिसे हँसने वाला स्वयम् भी नहीं पहिचान पाता। हास्य की आवश्यकता पर विचार करते हुए जॉर्ज मैरिडिथ ने लिखा है :

If you laugh all round him, trouble him, roll him about, deal him a smakle and drop a tear on him, own his likeness to you and yours to your neighbour, spare him as like as you shun, pity him as much as you expose, it is spirit of humour that is moving you......................

The stroke of the great humourist is world wide with lights of tragedy in his laughter".

उद्धरण का अन्तिम अंश महत्वपूर्ण तथा विचारणीय है। भारतीय शास्त्रकारों में रसमैत्री के प्रकरण का विवेचन करते हुए करुणरस को हास्य रस का शत्रु बतलाया है, जबकि हास्य की भावना में जॉर्ज मेरिडिथ करुणा की झलक पाते हैं। साहित्यदर्पणकार का कथन है:

आद्यः करुण बीभत्सरौद्रौ वीर भयानकै
भयानकेन कारणेनापि हास्यो विरोधभाक्।

इसके अनुसार करुण रस के साथ हास्य का प्रयोग पूर्ण रूप से असफल तथा निर्जीव होगा। एक अन्य स्थल पर जॉर्ज मैरिडिथ कहते हैं।

'You may estimate your capacity for comic perception by being able to detect the ridicule of them you love without being loving them less."

हँसने के लिये प्रेम को कम करना पड़ता हो ऐसा तो मनोविज्ञान कभी नहीं कहता। हास्य की मनोवृत्ति सामाजिकता तथा प्रेम-भावना लिये हुए है। फिर प्रेम पात्र से हँसने पर प्रेम कम हो और वही हास्य शक्ति का मापक हो, यह कदापि संगत नहीं लगता। फिर शरीर वैज्ञानिक तो हास्य को बढ़ती हुई प्रेम की शक्ति का ही परिवर्तित रूप मानते हैं।

भ्रान्त—भ्रान्त में खास तौर पर ऐसे पुरुषों का मज़ाक उड़ाया जाता है जो समाज-विरोधी है। हास्य के विपरीय भ्रान्त में हास्यास्पद पात्र को अपने हास्यास्पद होने का ज्ञान होना न चाहिए। ए० नकाल ने इस विषय में लिखा है:

"The absurd on the other hand is purely uncosncious. We laugh at 'e' etourdi but he himself is quite innocent of the sense of our merriment. The absurd character puts all his follies uncosiciously to the world.

भ्रान्त का प्रयोग लेखक प्रायः तीन प्रकार से करते हैं। १—वस्तु का अतिरञ्जित चित्र करके कल्पना के पङ्ख लगाकर वस्तु की यथार्थ से दूर करने पर। इस प्रकार भ्रान्त का प्रथम प्रयोग होता है। १—अत्युक्ति के कारण। २—रूप का परिवर्त्तन द्वारा। ३—वस्तु का आकार अत्यन्त विकृत कर

उपस्थित किया जाता है। हिन्दी में जी० पी० श्रीवास्तव, बद्रीनाथ भट्ट चोंच, तथा बेढबजी ने इसके अच्छे प्रयोग किये हैं ।

उपहास:—उपहास की भावना हास्य के ठीक विपरीत है। पहले कहा जा चुका है कि हास्य में हँसने वाले के मन में सहानुभूति की अन्तर्धारा प्रवाहित रहती है किन्तु उपहास में घृणा आदि सहानुभूति विरोधी भावों का प्रावल्य रहता है। हास्य का उद्देश्य जहाँ हँसी उत्पन्न करके मनोरंजन करना मात्र रहता है उपहास का उद्देश्य घृणा का प्रकाशन है। हम समाज विरोधी व्यक्ति को हास्यास्पद बनाकर मनोरंजन करते हैं, उपहास में समाज तथा उसकी रूढ़ि-रीतियाँ हमारे उपहास का आधार बनती हैं । समाज की दुर्बलताओं पर लेखक इसके माध्यम से तीखा मार्मिक और कटु प्रहार करता है कि पाठक तिलमिला उठता है।

वाग्वैदग्ध्य—वस्तुत: वैदग्ध्य न तो हास्य का कोई प्रकार विशेष है और न गुण ही । इसकी अपनी शैली पूर्णतः हास्य से पृथक् है । साथ ही इसकी हास्योत्पादन की शक्ति भी हास्य के किसी अन्य भेद से पृथक है। वैदग्ध्य के विषय में यह अत्यन्त विवादपूर्ण है कि वैदग्ध्य की सत्ता आलम्बन में है या आश्रय में। अभी तक विद्वान लोग इस पर एकमत नहीं हो पा रहे हैं। वैदग्ध्य का उपयोग शब्द और अर्थ दोनों से ही होता है। अत: अलंकार की तरह इसमें भी शब्द-वैदग्ध्य और अर्थ-वैदग्ध्य ये दो भेद किए जा सकते हैं।

दूसरा सप्तक

'दूसरा सप्तक' के नाम से श्री अज्ञेय के सम्पादन में एक नई काव्य-पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें सात कवियों की कुछ रचनाएँ संग्रहीत हैं। 'दूसरा सप्तक' नाम एक परम्परा का द्योतक है और 'तार सप्तक' की ओर संकेत करता है। सन् १९४३ में अज्ञेय ने 'तार सप्तक' का सम्पादन किया था और उसमें स्वयं के सहित कुल सात कवियों की रचनाएँ संग्रहीत थीं। हिन्दी में 'प्रयोगवाद' नाम की काव्य धारा का प्रवर्त्तन इसी सप्तक से माना जाता है।

'प्रयोगवाद' के किंवा व्यावहारिक स्वरूप पर आलोचना करना इस समय हमारा ध्येय नहीं है। यहाँ तो दूसरे सप्तक में संग्रहीत कवियों की काव्यगत समीक्षा ही इष्ट है।

'दूसरे सप्तक' में जो सात कवि संग्रहीत किये गये हैं, वे प्रायः सभी स्फुट रूप से लिखते रहे हैं। परन्तु पृथक् रूप से संग्रह किसी का भी प्रकाशित नहीं हुआ है और न ही कविवर नागार्जुन की तरह वे हिन्दीभाषी जनता में काफी लोकप्रियता प्राप्त ही है। सात प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों को हिन्दी संसार की दृष्टि के सम्मुख लाने के नाते अज्ञेयजी का प्रयत्न निश्चय ही स्तुत्य है।

ये सात संग्रहीत कवि क्रम से इस प्रकार हैं—भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेरबहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती। इनमें शकुन्तला माथुर हिन्दी संसार की बिलकुल नव परिचित हैं और शेष कवियों को 'हंस', 'प्रतीक' तथा 'नया साहित्य' के पाठक न जानते हों सो बात नहीं है।

संकलन का स्वरूप तो सप्तक की ही तरह का है। पहिले लेखक का परिचय फिर उसका वक्तव्य तथा बाद में रचनाएँ। किन्तु कुछ ऐसा लगा कि परिचय और वक्तव्य दोनों में प्रथम सप्तक की सी प्राणवानता नहीं है। परिचय में वैयक्तिकता की उस मीठी छाप का अभाव-सा ही है जो प्रथम सप्तक में थी और वक्तव्य तो कवियों ने असंगत ढंग से दिये हैं। प्रथम सप्तक के कवियों के वक्तव्य में एक विशेष प्रकार की सजीवता, स्पष्टता, प्रासंगिकता,

निजीपन तथा चिन्तन की छाप थी। पर 'दूसरे सप्तक' के अधिकांश वक्तव्य अप्रासांगिक बातों से युक्त तथा अन्विति-विहीन हैं। पहिले सप्तक में रामविलास, अज्ञेय, माचवे, गिरजाकुमार, नेमिचन्द, गोया सभी के वक्तव्य काव्यगत दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण थे। अज्ञेय का वक्तव्य भावप्रेषण की समस्या की दृष्टि से तो डॉ० रामविलास का वक्तव्य 'काव्यगत भदेसपन' की दृष्टि से। इसी प्रकार गिरजाकुमार ने अपने उस ध्वनि सिद्धांत की रूपरेखा वक्तव्य में प्रस्तुत की थी, जिस पर आगे चल कर उन्होंने 'प्रतीक' में एक विस्तृताकार लेख लिखा था। प्रथम सप्तक के प्रकाश में 'दूसरे सप्तक के वक्तव्यों' को देखने से यह प्रतीत होना स्वाभाविक ही है कि काव्य के सम्बन्ध में नवागत पीढ़ी के कविवर्ग गहराई से विचार नहीं कर पा रहे हैं।

भवानीप्रसाद मिश्र मूलतः व्यंजना के कवि हैं। उनकी कुछ प्रसिद्ध कविताएँ तो इसी संग्रह में आई हैं। 'गीत फ़रोश' उनकी बहुत प्रसिद्ध रचना है, जिसमें कि उन्होंने एक कवि को साधारण दूकानदार की तरह कविता बेचते हुए बतला कर उसकी विवशता को व्यंजित किया है। भवानी भाई की अन्य भी कई सुन्दर रचनाएँ इसमें संकलित हुई हैं। लोकगीत की शैली पर लिखा हुआ यह गीत तो देखिये :

पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
हरियाली छा गई हमारे सावन सरसा री।
बादल छाये आसमान में धरती फूली री,
अरी सुहागिन भरी माँग में भूली भूली री।
बिजरी चमकी भाग सखी री, दादुर बोले री।
अंध प्राण हो बही, उड़े पंछी अनमोले री।
छन-छन उठी हिलोर मगन मन पागल दरसा री।
पीके फूटे आज प्यार के पानीं बरसा री॥

लोकगीतों की ध्वनि पर यदि कविता लिखने से ऐसे ही सुन्दर, सफल, मार्मिक और कलापूर्ण प्रयास किये गये तो निश्चय ही हम काल्पनिक जनता की अपेक्षा सही हाड़-मांस की बनी जनता के पास अधिक पहुँच सकेंगे और जातीय रूपविधान को अधिकाधिक मात्रा में काव्य में उतारने में सक्षम होंगे। 'गीत फ़रोश' शीर्षक कविता में एक साथ ही कवि की विवशता, तज्जन्य-अवसरवादिता और समाज की कठोरता तथा निर्ममता व्यंजित होती है जो एक साथ अनूठी है। केदारनाथ अग्रवाल ने काफी पहले 'वतन बेचता हूँ'

शीर्षक कविता में इस प्रकार का प्रयोग किया था । 'सतपुड़ा के घने जंगल', 'प्रलय', 'सन्नाटा' आदि रचनाएँ काफ़ी सुन्दर हैं । कवि के कथन में सादगी के साथ वक्रता इस प्रकार गुँथी हुई हैं जैसे खादी के सूत के साथ रेशम का सूत गुँथा हुआ हो ।

शकुन्तला माथुर का व्यक्तित्व कुछ दबा-दबा सा लगता है । प्रतीत होता है जैसे लेखिका अपने हीनत्व को निकाल नहीं पाई है और इसीलिए उनमें अपने भीतर के कवि के प्रति कोई आस्था उत्पन्न नहीं हो सकी है । पर वक्तव्य के अन्त में उन्होंने जिस स्वस्थ दृष्टिकोण की ओर संकेत किया है, वह पर्याप्त आशाजनक है । आपकी कविताएँ अधिकांश में अपने पति की कविताओं से प्रभावित हैं । शैली शिल्प के साथ ही भाव-विधान भी कुछ वैसा ही है । 'केशर रंग रंगे आँगन' कविता 'आज हैं केशर रंग रँगे बन' के प्रभाव से ही लिखी जान पड़ती है ।

हरिव्यास की कविताओं में नवीनता तो काफ़ी है, पर आवश्यकता से अधिक गद्यात्मकता और अभिव्यक्ति की उलझन ने कई कविताओं का मज़ा किरकिरा कर दिया है । 'वर्षा के बाद' शीर्षक गीत व्यंजक प्रयोगों के कारण बहुत सुन्दर बन पड़ा है :

पहिली असाढ़ की छाया में नीलांजन बादल बरस गये ।
फट गया गगन में नील मेघ
पय की गगरी ज्यों फूट गई ।
बौछार ज्योति की बरस गई
झर गई बेल से सोन जुही ।।
मधुमयी चाँदनी फैल गई, किरनों के सागर बिखर गये ।।

अन्य कविताओं में 'उठे बादल, झुके बादल', 'ग्रंथि' और 'शिशिरान्त' अच्छी बन पड़ी हैं । कवि ने अन्त में लिखा है :

मत करो गंदी अरे जन जाह्नवी पोखर बना कर
तुम उसे फिर सृजन की राह पर लाओ ।
भगीरथ
लक्ष्य तक फैली डगर के कंटकों के डंक तोड़ो
कन्दरा के गर्भ में व्याकुल विलखता है तुम्हारा विश्व
तुम उसे विश्वास दो ।
इन्सानियत की ज्योति दो ।

शमशेर बहादुर संग्रहीत कवियों में सबसे ज़्यादा प्रयोगशील हैं। जिनकी कविताओं पर पृथक् रूप से विचार करना आवश्यक है। क्योंकि सैद्धांतिक रूप से प्रयोगवाद (अज्ञेय के मतानुसार) जिस उलझन की अभिव्यक्ति है, वह शमशेर में ही मिलती है। कुछ दिन पहले आल इंडिया रेडियो से जो वार्त्तालाप प्रसारित हुआ था उसमें अज्ञेय ने कहा था कि प्रयोगशील कविता की नवीनता भाव तथा रूप विधान की ही नहीं वरन् नए रागात्मक-सम्बन्धों की भी है। 'तारसप्तक' में अज्ञेय ने लिखा है 'आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है।' तो क्या नवीन रागात्मक सम्बन्धों से अज्ञेय जी का आशय इन्हीं यौन वर्जनाओं ही से है। यदि यह ठीक है तो शमशेर की कविताएँ इसी दिशा में एक व्यवहारिक कदम है ! अब प्रश्न सफलता तथा नवीनता का है। सफलता तो प्रायः किसी कवि को मिली नहीं। फिर सभी अन्वेषी (?) हैं। काव्यगत अस्पष्टता को नवीनता का पर्याय कोई भी बुद्धिवादी मानने को तैयार होगा यह नहीं कहा जा सकता। शमशेर की 'शरीर स्वप्न' शीर्षक कविता देखिये :

मकई से ला गेहुँए तलुए
मालिश से चिकने हैं :..........

सूखी भूरी झाड़ियों में व्यस्त
चलती-फिरती पिंडलियाँ।.........
: मोटी डालें, जाँघों से न अड़ें : :
सूरज को आइना जैसे नदिया
इन मर्दाना रानों की चमक
'इन' को खूब पसन्द।.........

वह वन शिव का स्थान
शान्त ज्योति में लय है ध्यान
नभ गंगा की शक्ति
सदा बरसती वहाँ।.........

वज्र गिरि कमर कठोर,
सीधा चढ़ता ऊर्ध्व दिशा की ओर।
शेष
नीला सूनापन।'

'तार सप्तक' में माचवे ने Make उपस्थित करने की बात कही थी। पर यह सब क्या है ? अनेकों अनुभूतियों को एक साथ उपस्थित कर व्यक्तित्व को मात्र माध्यम बनाते रहने से श्रेष्ठ कविता की सृष्टि करने का इलियटवादी रास्ता है और इसीलिये अनेक अनुभूतियाँ तो उपमा और रूपक के माध्यम से इकट्ठी हो सकती हैं पर कविता के लिए व्यक्तित्व की तटस्थता का सिद्धान्त काव्य की मूल-आत्मा के ही विपरीत है। आलोचना का एक फ़ैशन भर। इस कविता के कटि और जह्नु वर्णन से तो सूर का 'अद्भुत एक अनूपम बाग' अधिक स्पष्ट है। चाहे उसके लिये इलियटवादी रूढ़ि की ही दुहाई क्यों न दें। पर जिस इतिहास की चेतना को आत्मस्थ करने के लिये या कहिये कि जिसके आगे व्यक्तित्व के उत्सर्ग करने की बात इलियट ने कही है वह शमशेर में मिलती है ? शमशेर की रचनाओं से तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रयोगशील कविता आधुनिक हिन्दी कविता का दृष्टिकूट अंश है।

नरेश मेहता हिन्दी के श्रेष्ठ प्रगतिशील कवि हैं जिनके पास कल्पना, भावना, विचार और भाषा की अपार शक्ति है। नवीन उपमाओं, रूपकों एवं अलंकारों का एक बड़ा कोश उनके पास है। अपनी छंद-योजना तथा गीति-सृष्टि से उन्होंने हिन्दी साहित्य को बहुत ही सुन्दर गीत दिये हैं। 'जनगरबा' शीर्षक यह गीत देखिए :

चलते चलो, चलते चलो।
सूरज के संग-संग चलते चलो, चलते चलो।
तम के जो बन्दी थे,
सूरज ने मुक्त किये
किरनों ने गगन पोंछ
धरती को रंग दिये।
सूरज को विजय मिली, ऋतुओं की रात हुई
कह दो इन तारों से चन्दा के संग-संग चलते चलो।

❀ ❀ ❀

आज तुम्हें मुक्ति मिली कौन तुम्हें दास कहे।
स्वामी तुम ऋतुओं के संवत् के संग-संग चलते चलो।

सुन्दर मूर्त्ति विधायिनी कल्पना की जो महान् शक्ति छायावाद के प्रारम्भ में कवि पंत को प्राप्त हुई थी, वही शक्ति प्रगतिवाद के इस युग में नरेशकुमार को प्राप्त हुई। परन्तु नरेशकुमार की कल्पना आकाशगामी नहीं,

उसके रेशम के रूमाल में धरती की मिट्टी बँधी हुई है। कविता के एक-एक छंद में जितनी नवीनता इस कवि की कविताओं में मिलती है, उसे देखकर कहना पड़ता है कि हमें कविता के भविष्य से निराश नहीं होना चाहिए। आज की हिन्दी कविता को नरेश मेहता की कविताओं पर गर्व होना चाहिये। 'समय देवता' शीर्षक कविता कवि की विराट् कल्पना, उसकी अलंकार शक्ति उपमाओं की नूतनतम योजना और शिल्प विन्यास की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इतिहास और वर्तमान तथा कल्पना एवं यथार्थ का कन्ट्रास्ट, भावना और विचारों की सम्बद्धता तथा कला-पक्ष की दृष्टि से यह कविता आज तक के हिन्दी-काव्य में बेजोड़ है। इस कविता में कवि ने दुनिया पर एक मर्म भरी दृष्टि डाली है और पूर्ण कलात्मकता के साथ अपनी अनुभूति को शब्दों, रूपकों, अलंकारों और उपमानों में उतार दिया है। इस कविता का 'कन्टेन्ट' बड़ा विस्तृत और व्यापक है और संक्षेप में उस पर कुछ कहा ही जा सकता है। कवि द्वारा आयोजित कुछ नवीन उपमान देखिये : इनमें कुछ तो ऋग्वेद कालीन हैं और शेष पूर्णतः नूतन।

(१) सोने की यह मेघ चील
अपने चमकीले पंखों में ले अंधकार अब बैठ गई दिन अंडे पर
नदी वधू की नथ का मोती चील ले गई।

(२) गगन बीड़ से सूरज ग्वाला हाँक रहा है दिन की गायें।

(३) साँझ, दिवस की पत्नी, अपने नील महल में बैठी कात रही है बादल

(४) चीन देश की वसुधा अपने स्तन से दूध पिलाती उस टापू को।
ज्वालामुखी मस्तक है जिसका
दूर छिपकली-सा वह टापू है जापान देश का
जोकि मर चुका एटम बम से
डूब गई बूटों की टापें, सिसक रहा कोढ़ी-सा जीवन
विज्ञान धुएँ के अजगर-सा है लील रहा सब रंग रेशमी मनुश्रद्धा का।
हीरोशिमा में मनुज मर गया

(५) याक् बैल पर बर्फ़ ओढ़ कर हिमगिरि को अच्छा लगता है महादेव तक चलते जाना

अपने छंद, लय और अलंकारों के प्रयोगों के द्वारा रघुवीर सहाय हिन्दी पाठकों के परिचित हैं। उनकी कई श्रेष्ठ रचनाएँ इस संग्रह से बाहर

ही हैं जो पाठक की अतृप्ति का कारण बनती हैं। इस संग्रह में रघुवीर सहाय की जो रचनाएँ संकलित हुई हैं वे बहुत ही एकांगी हैं। और उनके काव्य की व्यापकता पर प्रकाश नहीं डालतीं। इन कविताओं के प्रयोग अधिकांशत: अपने तक सीमित हैं और अन्तर्मन की निविड़ता से सन्बन्ध रखते हैं। संध्या शीर्षक कविता देखिये :

खिचा चला जाता है दिन का सोने का रथ
ऊँची नीची भूमि पर कर
अब दिन डूब रहा है जैसे
कोई अपनी बीती बातें भुला रहा हो
धरती पर की दूब घास में उरझ-उरझ कर
उजले-उजले अनबोये खेतों में होकर
धूप अनमनी सी वापिस लौटी जाती हैं।

किन्तु इसका आशय यह न निकाला जाय कि रघुवीर सहाय की इस संग्रह में जो कविताएँ आई हैं, उनकी श्रेष्ठता कम है। परन्तु उनका दोष यही है कि वे मन की निविड़ता में अधिक खोई सी लगती हैं।

धर्मवीर भारती इस संगह के अन्तिम कवि हैं। जहाँ तक रोमानीपन का प्रश्न है उनकी कविता में भरपूर है। किन्तु इलियट के निर्वेत्तिकरण के सिद्धांत पर जहाँ शमशेर की कविताएँ पूरी उतरती हैं, भारती उससे कोसों दूर हैं। लगभग सभी कविताएँ आत्म केन्द्रित हैं और नकली, हल्की मस्ती उनमें दिखाई देती है। कवि कभी प्रेयसी के पांव अपनी गोद में लेकर बैठ जाता है तो कभी नयन के पाटल चूमने की इच्छा प्रकट करता है। इस प्यार की कविताओं पर उर्दू काव्य की नकली मस्ती का प्रभाव स्पष्ट है जो वर्षों पहिले हिन्दी में बच्चन दुहरा चुके हैं और इसमें अब कुछ नवीनता नहीं रह गई है। 'सुभाष की मृत्यु पर' तथा 'थके हुए कलाकार से' शीर्षक कविताएँ काफी अच्छी बन पड़ी हैं। कवि थके हुए कलाकार से कहता है :

'सृजन की थकन भूल जा देवता।
अभी तो पड़ी है धरा अधबनी,
नहीं स्वर्ग की नींव का भी पता।
सृजन की थकन भूलजा देवता।'

अन्त में इतना ही कहना शेष है कि कई महत्वपूर्ण प्रश्नों की, जोकि आज के बुद्धिजीवी के लिये चिन्तन के विषय बने हुए हैं, की दृष्टि से संग्रह का बड़ा महत्व है। और ये प्रश्न हैं कविता के भविष्य के, उसके वैज्ञानीकरण के, भाव प्रेषणा और परबोध की समस्या के। इस संग्रह की रचनाओं को पढ़ने पर हमें कई प्रश्नों का अप्रत्यक्ष रूप से उत्तर मिल जाता है और वह यही कि नवीन मानवता में जीवन की सुकुमारतम कला का भविष्य निराशा और अंधकार से पूर्ण नहीं हैं, वरन् उज्जवल आशा और प्रकाश से दीप्त है।

प्रयोगवाद और टूटती शृंखलाएँ

इधर कुछ वर्षों से नई पीढ़ी के एक कविवर्ग ने अभिव्यक्ति की सनातन समस्या के नाम पर काव्य के क्षेत्र में कुछ नये प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिये हैं। अज्ञेयजी ने इस नवीन शैली प्रधान काव्य को एक सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पर खड़ा करने का प्रयत्न किया है। आज जब हम 'प्रयोग' शब्द को काम में लाते हैं तब वह एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसका अर्थ आज सैद्धान्तिक धरातल पर खड़ा है। 'तारसप्तक' के सम्पादक अज्ञेय लिखते हैं—'यह आज कवि की सबसे बड़ी समस्या है। यों तो समस्याएँ अनेक हैं—काव्य विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, संवेदना के पुनः संस्कार की आदि—किन्तु उन सबका स्थान इसके पीछे है। क्योंकि यह कवि कर्म की ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और Communication (निवेदन) की समस्या है और कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति यही है। अज्ञेयजी के इस कथन से स्पष्ट है कि प्रयोगवादी काव्य-शिल्प को सैद्धांतिक दृष्टि से प्राथमिकता देता है। यही समस्या उसके लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि यह 'प्रयोगवाद' ठीक वैसा ही प्रयोग नहीं है जैसा कि जीवन और काव्य के क्षेत्र में समाज के गतिशील होने से प्रत्येक युग के महान् लेखक ने किये हैं। क्योंकि उन प्रयोगों के मूल में अज्ञेय जी की यह मौलिक समस्या नहीं रही है। अज्ञेय जी की इस मौलिक समस्या के जन्मदाता हैं—अंग्रेजी के कवि तथा आलोचक टी०एस० इलियट, जिन्होंने आई० ए० रिचार्ड्स की सहायता लेकर अंग्रेजी साहित्य में एक दुरुह शैली का प्रवर्त्तन किया था। सैद्धांतिक दृष्टि से विचार करने पर प्रयोगवादी कविता की पृष्ठभूमि साहित्य की वे पतनोन्मुख धाराएँ दिखाई देती हैं जिनका जन्म पश्चिम के क्षयग्रस्त पूँजीवाद के अंचल में हो रहा है। परन्तु व्यावहारिक रूप से प्रयोगवादी काव्य अभिव्यक्ति की इस मौलिक समस्या (?) से नहीं जूझा है। उसके आज स्वरूप पर दृष्टि डालना ही हमारा इष्ट है।

प्राचीन रूढ़ियों और संस्कारों से ऊब कर मानव प्रायः सभी ओर नवीनता की चाह करता है। इसका प्रमुख कारण यही है कि गतिशील भूख

जगत में अन्य वस्तुओं की भाँति सौन्दर्य में भी मानो परिवर्त्तन होता है। रीतिकाल का स्थूल चित्रण उस युग विशेष की सौन्दर्यभावना का ही चित्र है, किन्तु छायावादी युग का कलाकार इसे कामलिप्सा के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता है और छायावाद का अतीन्द्रिय वायवी और मनोगत चित्रण आज मानसिक क्षय का परिचायक माना जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सौंदर्य का कोई स्थिर धर्म नहीं। वह तो युग सापेक्ष है। नवीनता और सुन्दरता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अस्तु, नवीन रूप की खोज में कलाकार का मन सौन्दर्य के नवीन रूप की ओर आकृष्ट होता है। आज बदली हुई परिभाषा में सौन्दर्य का अर्थ है—'स्वस्थ, प्रकृत'।

इसी प्रयास में मानव-मन सौंदर्य के प्राचीन अर्थ को तोड़ता हुआ—बद्ध रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करता है। अब उसके स्थान पर नवीनता को स्थापित करने का प्रयत्न करता है। उसी प्राचीनता के स्थान पर जब वह नवीनता को स्थापित करने का प्रयत्न करता है तो प्रायः अटपटा-सा लगता है। काव्य के क्षेत्र में ये प्रयोग प्रायः दो प्रकार के होते हैं। एक भाव के क्षेत्र में और दूसरे शैली के क्षेत्र में। वर्ण्य विषय को लेकर भाव के क्षेत्र में तो क्रान्ति शीघ्र ही हो जाती है। कारण इसका स्पष्ट है—सामाजिक गतिक्रम का क्षिप्र होना। कोई भी काव्य बदली हुई परिस्थिति में सामाजिक गतिक्रम की उपेक्षा कर जीवित नहीं रह सकता। फलतः भाव के क्षेत्र में नूतनता का श्रीगणेश शीघ्र ही हो जाता है। जहाँ भाव के क्षेत्र में क्रान्ति के अभाव में प्रयोग न होकर नवीन वर्ण्य विषय प्राप्त नहीं होते, साहित्य एक संकुचित दायरे में क़ैद हो जाता है, उसका जीवन से सम्बन्ध टूट जाता है और वह कतिपय भावानुभूति के आधार पर रचा जाकर एक शैलीमात्र बन जाता है। फलतः साहित्य की जीवन्त धारा का मुक्त प्रवाह रुकता हुआ दृष्टिगत होता है और मजबूर होकर भाव के क्षेत्र में क्रान्ति के नये अंकुर फूट जाते हैं। युग विपर्यय का यही मूल कारण है। भाव के क्षेत्र में जहाँ सुन्दरता के परम्परागत अर्थों को तोड़ कर प्रकृत रूप का उद्घाटन किया गया है एवं प्राचीनता के स्थान पर इस नवीन रूप का आरोप संस्कारबद्ध मस्तिष्क को प्रायः अटपटा-सा लगता है, कुछ भद्दा-सा लगता है। इसी कारण हिन्दी वालों ने इस प्रकार के प्रयोगों को भदेसपन के नाम से अभिहित किया है। किन्तु यह भदेसपन

सर्वत्र दिखाई नहीं देता वरन् कहीं तो जीवन के अत्यन्त निकट का चित्र उपस्थित करने के कारण उसमें एक स्वाभाविक आकर्षण रहता है। श्री गिरजाकुमार माथुर की 'शाम की धूप' शीर्षक कविता का यह अंश देखिए :

क्योंकि अब बन्द हो गए दफ़्तर,
घंटियाँ बज रही हैं रिक्शों की,
बीसियों साईकिलों की पाँतें,
कैरियर टोकरी या हैंडिल में
कुछ के खाली कटोरदान बँधे,
कुछ में हैं फ़ाइलें हर छिन भूखी
जो न कभी खत्म हुईं ऑफ़िस में।
हैं जरा कम ही टोकरियाँ ऐसी,
जिनमें आते हैं मौसमी फल फूल।
या कि फुटपाथ पर बिकती चीजें,
मूँगफलियाँ, गरी, केले, अमरूद
या डबलरोटी, केक, बन, बिस्कुट,
'चीज' टिन-फ़्रूट सिरप या सिरके,
ऐसी किस्मत की टोकरी कम हैं।

यह चित्र बहुत ही लम्बा है और मध्यम वर्ग या आफ़िस के क्लर्कों का एक मार्मिक जीवन चित्र उपस्थित करता है। यह तो हुई नवीन भाव तथा वस्तु की बात, किन्तु शैली के क्षेत्र में कलाकार शीघ्र ही परिवर्त्तन करने की ओर उन्मुख नहीं होता, किन्तु पुरानी अभिव्यंजना की पद्धति पर जीवन का नूतन संगीत मुखरित हो नहीं पाता और विवशता बार-बार पीछे की ओर ठेल देती है। इसका कारण यही है कि जीवन काफ़ी आगे बढ़ जाता है, किन्तु शैली के क्षेत्र में अभी भी प्राचीन जीवन से दिए गये रूढ़ प्रतीक और उपमान पूर्ववत हावी हैं। अतः जब जीवन आगे बढ़ जाता है, जीवन (प्राचीन) से लिए गये प्रतीक और उपमान जीवन से सम्बन्ध न रखने के कारण काल्पनिक और हवाई हो जाते हैं। यह प्राचीन रूढ़ एवं परम्पराबद्ध अभिव्यंजना पद्धति जीवन से असम्बन्ध रखने के कारण प्राचीनोन्मुख हो जाता है और इस प्रकार उठती हुई नवीन भावनाओं को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहती है। साथ ही मनुष्य के मस्तिष्क पर इस शैली का अत्यधिक प्रभाव

पड़ता है, इसलिए कलाकार जब नवीन भावों को अभिव्यक्त करने की ओर उन्मुख होता है तब उसे संस्कारवश एवं अन्य अभिव्यक्ति की प्रणाली के अभाव में, इस प्राचीनोन्मुख शैली की शरण ग्रहण करनी पड़ती है जो जैसा कि पहले कहा जा चुका है—नवीन भावनाओं को अपने पूर्ण एवं सही रूप में अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं है । कई बार लेखक को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है । जब लेखक अपने दैनिक जीवन की परिस्थिति विशेष को, पारिवारिक व सामाजिक कठिनाइयों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है, काव्य का चोला पहनाना चाहता है तब यह कठिनाई मूर्त्ति-मान होकर सम्मुख उपस्थित होती है; उस समय लेखक के मानस में एक प्रकार का संघर्ष उत्पन्न होता है । यह संघर्ष होता है शैली और वस्तु के बीच में । वस्तु चाहती है कि वह जिस रूप में है बिना किसी प्रकार के हेर-फेर के या भावना का रंग चढ़ाये, अपने अपरिवर्त्तित रूप में व्यस्त हो जाए और शैली जो कि वस्तु को अपने सही रूप में अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहती है, वस्तु पर अपना प्राचीनोन्मुख रूप चढ़ाने का प्रयत्न करती है । एक कारण और है जो उक्त भावनाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति में बाधक रहता है—वह मस्तिष्क के शैलीगत संस्कार (कलाकार के मस्तिष्क पर, पाठक के मस्तिष्क पर नहीं) । इसलिए हमारे दैनिक जीवन की कठिनाइयाँ अपने सही रूप में व्यक्त नहीं हो पातीं और उसके स्थान पर प्राचीन शैली के साथ में संस्कार रूप में मानसस्थित काल्पनिक भावनाएँ अभिव्यक्त होती हैं । श्री भारत भूषण ने कलाकार की इस कठिनाई को पहचानते हुए उसकी परिस्थिति का निर्देश किया है :

तू सुनता रहा मधुर नूपुर ध्वनि,
यद्यपि बजती थी चप्पल ।

ठीक इन्हीं कारणों को लेकर प्रयोगवाद की नई कविता का जन्म हुआ जो सचेतन रूप से नवीन शिल्प का आग्रह करती है और जिसमें जीवन संघर्ष से उद्भूत नूतनतम अनुभूति को उसी तीखेपन के साथ, जितना कि कलाकार ने अनुभव किया है, अभिव्यक्त करने का प्रयास भर रहता है । इस प्रयास के अन्तर्गत लेखक प्राचीन शैली का परित्याग कर एक ऐसी नई शैली के निर्माण में संलग्न होता है, जिसमें रूढ़, परम्परागत एवं बँधे हुए प्रतीक उपमान तथा वाक्य विन्यास न रहें—जो वास्तविकता से दूर केवल कल्पना

की ही वस्तु रह गये है। लेखक नव भाषाभिव्यंजना में सक्षम नवीन प्रतीक एवं उपमानों का सहारा लेता है। एक उदाहरण देखिये :

जो हो मुझे तुम दीखते हो कछुए,
मानो भारत संस्कृति प्रतीक,
जिसे जरा सी छुए ना छुए,
नए ज्ञान की सूक्ष्म सीलदार
कि वह सिहर कर
छुई मुई सी—
बन जाएगी सिमुट सिमुट कर
गुडी मुडी सी—
अविचल, सिर्फ़ गाँठ की गाँठ
नकारात्मक दिखला देगीं
कर्री, चिकनी, निपट पीठ ही पीठ।

प्रयोग के लिये यह आग्रह तो कदापि नहीं कि भाव सर्वथा नया हो— या प्रयोग नए भाव के साथ ही सफल होगा। हाँ, अज्ञेय जी ने अन्वेषण का दृष्टिकोण जरूरी बतलाया है।

इन्हीं प्रयोगों को दृष्टि में रखते हुए हम 'टूटती शृंखला' पर विचार करेंगे। श्री महेन्द्र भटनागर के इस संग्रह में हमें सभी प्रकार के प्रयोग दिखलाई देंगे। मुख्यतः इन प्रयोगों को तीन रूपों में देखा जा सकता है : (१) छंद विधान में, (२) उपमान तथा प्रतीक की नूतन योजना तथा भाषा की अभिव्यंजना शक्ति के लिए किये गए शब्दों के ऐकान्तिक तथा पारिभाषिक प्रयोग। तथा (३) जीवन की निकटता से नवीन सौंदर्य चेतना को जगाकर संवेदन उत्पन्न करने वाले चित्र। छंद का एक विधान देखिये :

'अंधेरा है अंधेरा है,
कि चारों ओर काले अंधतम का ही
बसेरा है।
कि जिसने सब दिशाओं को,
कुटिल भय पाश से भर मौन घेरा है।'

प्रवाह की दृष्टि से यह प्रयोग एक साथ नया है। अनुभूति की गहराई कभी स्वर की विराटता की माँग करती है, और तब अपेक्षित भावना व्यक्त

होती नजर आती है। उपर्युक्त छंद में पहली पंक्ति से लेकर तीसरी पंक्ति तक स्वर में उठाव होता है और उसके बाद उसका होता हुआ प्रसार तथा आरोह मानो यह कह देता है कि उसने "सब दिशाओं को—पाश से भर मौन घेरा है।" वस्तुतः यह छंद हिन्दी की मूल भावना (स्वर की उदात्तता) के अधिक निकट है। वैसे उर्दू के ढंग के प्रयोग भी उन्होंने किये हैं, पर अपेक्षाकृत वे सफल प्रयोग नहीं है। जैसे :

पूर्वरूप पर नवीन शक्ति जैतवार हैं।
दर्प की शिला तड़क रही नया प्रहार है।

आगे देखिए कवि जहाँ ज्योति दिखाने का अवसर आता है, सिद्धान्त से मिलने की बात कहना चाहता है—वह पुराने प्रतीक दीपक और मशाल को छोड़कर 'टॉर्च' को चुनता है—जिससे आवश्यकतानुसार प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है। जबकि दीप आदि अनावश्यक रूप से भी जलते रहते हैं। साथ ही अंधकार में टार्च ले जाना और उससे अंधकार पार करना, हमारे जीवन के निकट से जुड़ा हुआ है। दीप लेकर अंधेरा पार करने वाला जीवन बहुत पुराना पड़ चुका है और सिद्धान्त की नवीन प्राण चेतना फूंकने के लिये दीप का प्रकाश अब अधिक शक्तिशाली नहीं रह गया है।

सघन जीवन निशा विद्युत लिये मानो
अँधेरे में बटोही जा रहा हो टार्च ले,
जब जब करे डगमग चरण
तब तब करे जग मग
ये जीवन पूर्णता का मग।

हाँ, इससे एक बात अवश्य होती है और खास तौर पर पाठक पर जो प्रभाव पड़ता है वह यह कि ऐसे स्थान पर नवीन उपमान कुछ विलक्षण सा लगता है। जहाँ एक ओर पुराने संस्कार एक साथ झंकृत हो उठते हैं उन्हें एक ठोकर-सी लगती है और वे चूर-चूर होकर बिखरने लगते हैं—वहीं दूसरी ओर हमें एक प्रकार का बौद्धिक आनन्द भी प्राप्त होता है। बौद्धिक में इसलिए कहूँगा कि अभी हमारा हृदय 'टार्च' की श्रेष्ठता के संस्कार का संस्कारी नहीं हो सका है। अतः सहज ही साधारणीकृत होने में कठिनाई पड़ती है।

इसी प्रकार कई नूतन शब्दों को भी कवि प्रयोग में लाता है—बादल के काले घनेपन को अभिव्यक्त करने के लिये वह भूगोल शास्त्र का सहारा लेता है :

हो उठा चंचल
कि देखे जब गगन में
कृष्णवर्णी घोर निर्भास मेघ।'

रात का चित्रण कवि यथार्थवादी ढंग से करता हुआ दिखाई देता है। इसके लिए वह हृदय का योग कम लेकर वस्तु में निहित अर्थ की व्यंजना पर जोर देता है :

ठंडी हो रही है रात,
धीमी यंत्र की आवाज,
रह रह गूँजती अज्ञात।
स्तब्धता को चीर देती है,
कभी सीटी कहीं से दूर इंजन की,
कहीं मच्छर तड़फ भन भन अनोखा शोर करते हैं,
चूहे भूखे निकलकर तोड़ ताबड़ जोर करते हैं।

रात्रि का यह वस्तुव्यंजक चित्र है। वस्तु में निहित अर्थ की व्यंजना प्रयोगवाद की अन्यतम विशेषताओं में से एक है।

इस प्रकार टूटती शृंखला के ये कुछ भाग जो मैंने उद्धृत किये हैं— उसकी प्रयोगशीलता को स्पष्ट करते हैं। अनेकों प्रयोग इस संग्रह में हैं जिसके लिये एक प्रयोगवादी आग्रह करते हुए अन्य उत्तरदायित्व से मुँह चुराता है। यह शुभ लक्षण है कि श्री मुक्तिबोध भी जो एक श्रेष्ठ प्रयोगवादी कवि रहे हैं—अज्ञेय जी की कुहेलिका से बाहर निकल आए हैं।

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.